पाशुपतसूत्रम्

श्रीमहर्षिकौण्डिन्यकृतभाष्योपेतम्

सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरः

वाराणसी

पाशुपतसूत्रम्

PASHUPATASUTRAM

Shri Madhavananda Granthamala's Tenth pusham—

OM JAYA MAHADEV

PASHUPATASUTRAM

With the commentary of

BHAGAVATPAD SHRI KAUNDINYA

Published by

SARVADASHNACHAYA
Shri Krishnananda Sagar

Edited with the Introduction

श्रीमाधवानन्दग्रन्थमालायाः दशं पुष्पम्—

जयश्रीमहादेव

अथ

पाशुपतसूत्रम्

भगवत्पादश्रीकौण्डिन्यकृतभाष्योपेतम्

सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरेण

भूमिकया सह संपाद्य

प्रकाशितम्

Published by—

ACHARYA KRISHNANANDA SAGAR

D. 38-135 Bans Phatak

Varanasi-221010

First Edition 1987

Price— 100 Rs.

Printed by

UPakar Press

Narayanpur, P.O. Shivpur, Varanasi.

भूमिका

पाशुपत सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन है; इसलिये कि वैदिक देवता भगवान् पशुपति परमशिव से इसका साक्षात् सम्बन्ध है। किन्तु कालक्रम से जगत् में परिवर्तन आता है। अतः सृष्टि के सर्जन में उदय और लय अनादिकाल से चला आ रहा है। द्वितीय या तृतीय शताब्दी ई० के लगभग जब बौद्धधर्म का सूर्य अस्ताचल होने जा रहा था और आर्य संस्कृति का सूर्य उदित हो रहा था, इसी अन्तराल में अतिप्राचीन दबा हुआ पाशुपत सम्प्रदाय इस पावन धरा-धाम पर पुनः पनपने लगा। भगवान् शिव स्वयमेव जगत् के गुरु के रूप में अवतरित हुए और अपने शिष्यों के प्रति पाशुपतसूत्रों के उपदेश किये। कुछ कालानन्तर चतुर्थ एवं षष्ठ शताब्दी ई० के मध्यकाल में शैवधर्म के क्षेत्र में एक महान् भाष्यकार 'कौण्डिन्य' का जन्म हुआ और इन्होंने स्वयं की संस्कृत-साहित्य से जोड़ कर इस सम्प्रदाय का वर्धन किया। इनके अतिरिक्त अन्य १७ विद्वान् सम्पूर्ण देश में बिखरे हुए थे, जैसाकि नकुलीस, कौशिक, गार्ग्य मैत्रेय आदि।

तृतीय शताब्दी एवं इसके आगे पाशुपत सम्प्रदाय के मुख्य प्रवर्तक न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के संस्थापक रहें। वात्स्यायन [३०० A.D.] उद्योतक [६३५ A.D.] वाचस्पति मिश्र [८४१ A.D.] भासर्वज्ञ [९२५ A.D.] उदयन [९८४ A.D] आदि तार्किकगण इस में शामिल रहें। इस सम्प्रदाय का प्रभाव तथ्य से सहज दृश्य है कि आर्यावर्त नवम शताब्दीपर्यन्त एक "पशुपति" में श्रद्धा रखता था, जबकि कहीं पर वैदिक देवताओं [स्कन्द, उमा, विष्णु आदि] की अर्चना होती थी। १३५० ई० के लगभग एक वैदिक भाष्यकार "सायण माधव" का जन्म हुआ, इन्होंने देखा कि इस सम्प्रदाय में कई छोट-मोटे उपसम्प्रदाय हो गये हैं। अतः अपने (सर्वदर्शनसंग्रहः' ग्रन्थ में चारवर्ण में बाधा है। प्रथम—नकुलीस या लकुलीस पाशुपत के नाम से प्रचलित था, जो मौलिक सूत्रों को मानता है। द्वितीय—शिव आगम के साथ तत्काल दक्षिण में शैवधर्म का प्रचार था, वह दूसरे वर्ग की रचना करता है। धार के भोजराज इस से सम्बन्धित रहे जिसकी कृति 'तत्त्वप्रकाशः' है। तृतीय—कश्मीर और उत्तरीय क्षेत्र में प्रचलित था। जैसा कि सोमानन्द की 'शिवदृष्टिः' वसुगुप्त का 'शिवसूत्रम्' एवं 'प्रत्यभिज्ञा हृदयम्' आदि।

चतुर्थ--'रसेश्वरदर्शन' सिद्ध नागार्जुन द्वारा संशोधित किया हुआ है। यह सम्प्रदाय भगवत्पाद 'गोविन्द' जैसे महान् अद्वैतवेत्ता द्वारा विकसित था। रसेश्वर के २५ ग्रन्थ हैं, जिसमें गोविन्दपादाचार्य का 'रसहृदयम्' भी शामिल है।

'सर्वदर्शनसंग्रहः' में पाशुपतसूत्रों और उनके कौण्डिन्यभाष्यों का राशीकर के पञ्चार्थभाष्य एवं दीपिका के रूप में वर्णन किया है। उस में उन्होंने 'गणकारिका' के रूप में ज्ञात अष्टश्लोक के प्रणेता 'हरदत्ताचार्य' का संकेत किया है। वह भासर्वज्ञ के भाष्य को उक्त ग्रन्थ पर भाष्य बतलाया है। ब्रह्मसूत्रों में पञ्चश्लोक के पाशुपतदर्शनसम्बन्धी पर्यालोचना है। आचार्य शंकर ने स्वकृत शारीरिकभाष्य में पाशुपतसूत्रों की कौण्डिन्यकृत पञ्चार्थभाष्य के रूप में चर्चा की है। यह सम्प्रदाय कई विभिन्न नामों से जाना जाता था। जैसा कि नकुलीस, पाशुपत, कालमुख, योग, शैव एवं नैयायिक आदि। आनन्दगिरि और वाचस्पतिमिश्र उक्त भाष्य की व्याख्या करते हुए पाशुपत के चार सम्प्रदाय बताए - शैव, पाशुपत, कारुणिक और कापाल। श्रीरामानुजाचार्य [१०१९-११३९ A.D.] ने भी स्वकृतश्रीभाष्य के पाशुपताधिकरण में भी पाशुपत के चार भेद बताए हैं। इस सम्प्रदाय का द्वितीयवर्ग अर्थात् 'दक्षिण का शैवधर्म के पास विशाल साहित्य भरा पड़ा है। इस वर्ग पर लिखने वाले श्रीकण्ठशिवाचार्य [१३५० A.D.] वेदान्तसूत्रों के भाष्यकार है। श्रीअप्पयदीक्षित [१५३० A.D.] ने 'शिवराकमणिदीपिका' सञ्ज्ञक उक्त ग्रन्थ पर टीका लिखी है। इन दोनों आचार्यों ने स्वतन्त्र सम्प्रदाय के विकास के साथ क्रमशः भाष्य एवं व्याख्या लिख कर ब्रह्मसूत्रों के सिद्धान्त को शैव' में परिवर्तित किया। नवम शताब्दी के पश्चात् दक्षिणभारत में कई शैवाचार्य हुए और जिन्होंने संस्कृत एवं तमिल भाषा में लिखे अपने ग्रन्थों से इसे समृद्ध किया। इस प्रकार उत्तर में कश्मीर से लेकर सुदूर कन्याकुमारी पर्यन्त सम्पूर्ण भारतवर्ष मे यह सम्प्रदाय छाया हुआ था।

भगवान् श्रीपशुपतिनाथ द्वारा उपदिष्ट प्रस्तुत यह 'पाशुपतसूत्रम्' शैवागमतन्त्रशास्त्र का एक उत्तम ग्रन्थरत्न है। इसकी उत्पत्ति के विषय में वायु एवं कूर्म पुराण में निर्दिष्ट किया गया है कि कलियुग के प्रारम्भ काल में स्वयमेव परमेश्वर रुद्र ने भगवती नर्वदा नदी के समीपवर्ती काश्वन अर्थात् 'कायावरोहण नामक सुप्रसिद्ध ग्राम में जंगम जगत् के हितार्थ एवं भक्तजनों के अनुग्रहार्थ अवतार ग्रहण किया था। यह सुपवित्र स्थान वर्तमानकाल में गुजरात प्रान्त के बड़ौदा जनपद के अन्तर्गत है और वह आज भी शैवीय भावना का प्रतीक है।

इस पावनभूमि पर निवास करने वाले अत्रिमुनि के वंशज एक अग्निहोत्री परिवार में अवतरित होकर भगवाद् पशुपति ने शैवधर्म की मर्यादा को स्थिर किया। उनके जन्म एवं बाल्य अवस्था से सम्बन्धित कुछ चमत्कार जुड़े हैं। एकदा उज्जैन की ओर विचरण करते हुए एक ब्राह्मण को पाशुपत धर्म की शिक्षा से शिक्षित किया और वह द्विज ब्रह्मावर्त से आया हुआ था तथा ग्रन्थ में उपलब्ध सूत्रों के रूप में ही यह शिक्षा दी गयी है, सम्पूर्ण ग्रन्थ १६८ सूत्रों में है। जो पाँच मन्त्रों के आधार पर पाँच वर्ग में विभक्त है यथा-सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान। इसमें साधक को साध्य अर्थात् परम-शिव की प्राप्ति पाशुपतव्रतधर्म द्वारा अविलम्ब हो जाय, इसके लिए सरल-सहज उपायों का वर्णन है। सूत्रों के पाँचों भाग साधक को यह बताने के लिए है कि किस प्रकार से भगवान् परमशिव की बाह्य सभी उपकरणों से यथाशक्ति रहित होकर एव श्रद्धा-भक्तिभाव तथा मानसपूजामात्र से प्रार्थना करते हुए उनके चरण कमलों को प्राप्त करें। सूत्रों में लोक-लोकान्तर का वर्णन नहीं है। किसी कर्म एव अपसिद्धान्त या अश्लील अनुष्ठान का भी वर्णन नहीं मिलता है। जैसे पचाग्नि विद्या के रूप में छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णन है। किन्तु यह ग्रन्थ सगुण या निर्गुण ईश्वर के रूप का वर्णन भी नहीं करता है। साधना की उच्च भूमिका पर आरूढ होने के लिए केवल (ॐ) प्रतीक का वर्णन है। यह सम्प्रदाय वस्तुतः मुमुक्षु को सहज-सरल रूप में सुज्ञान प्रदान करता है। इस लघुकलेवर के रूप में विद्यमान 'पाशुपतसूत्रम्' पर भाष्य लिखने वाले महर्षि कौण्डिन्य हैं। इनका काल लगभग ४ और ६ शताब्दी ई० में था। उस काल में पाटलिपुत्र एवं उज्जैन नगरों की महती ख्याति थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवनचरित्र का आंशिक संकेत भाष्य से प्राप्त होता है, किन्तु वह अपने किसी समकालीन लेखक की चर्चा नहीं करते, वह स्वतन्त्र रूप से पाशु-पतसूत्रों में श्लोकों को बिना किसी का नाम दिये उद्धृत करते हैं। इस लिए कि वह तीन सूत्रों के भिन्न-भिन्न पाठ का संकेत करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उनके पूर्ववर्ती एक या दो थे। सांख्य एवं योग के सम्बन्ध में प्रायः चर्चा करते हैं, किन्तु वेदान्तसम्बन्धी कहीं एक या दो स्थलों में वेदमन्त्रों को उद्धृत किये हैं तथा अन्यत्र मनु ने कहा था ऐसा उद्धृत श्लोक प्राप्त होते हैं। भाषा शैली सुन्दर सरल है और वाक्यरचना पांतजलमाहाभाष्य के अनुसार है।

सायण माधव एवं भट्ट भास्कर जैसे भाष्यकारों ने अपने वेदभाष्य में एक शब्द भी सद्योजातसम्प्रदाय के विषय में नहीं कहा है। सम्पूर्ण पाशुपतसम्प्रदाय इन्हीं मन्त्रों पर आधारित है। कौण्डिन्य, सायण माधव एवं अन्य लोगों के

भाष्यों में दूरवर्ती सम्बन्ध भी नहीं है। जैसे भट्ट भास्कर ने अपने रुद्रभाष्य और सद्योजातमन्त्र में रुद्र शब्द के अनेक अर्थ किये हैं, किन्तु कौण्डिन्य द्वारा दिये गये इसके अर्थ की चर्चा नहीं पायी जाती है। विशुद्धमुनि एवं तदनुवर्ती लोगों ने अपनी कृतियों में भाष्यकार के मत का ही अनुमोदन किया है। सायण माधव ने वेदभाष्य में अपने पूर्ववर्ती का जहाँ भी उन्हें किसी मन्त्र का एक से अधिक अर्थ देना अभीष्ट है। सद्योजातमन्त्र का वर्णन तैत्तरीय आरण्यक में आता है। सायण माधव एवं भट्ट भास्कर इसे पंचमुख शिव की प्रार्थना मानते हैं। कौण्डिन्य सद्योजातमन्त्र को तीन अंश में विभक्त करते हैं। सद् + आद्य + अजात अर्थात् शाश्वत् + पुरातन + अजन्मा। किन्तु सायण माधव आदि ने इस व्याख्या की चर्चा नहीं की है। जिससे ज्ञात होता है कि पाशुपतसम्प्रदाय ४ या ५ शताब्दी ई० के पश्चात् विलुप्त हो गया था। ऐसी स्थिति में हम इस विलुप्तता की जागृति कैसे कर सकते हैं? जबकि सायण माधव अपने 'सर्वदर्शनसंग्रहः' में उल्लेख करते हैं कि भासर्वज्ञ (९२५ A. D.) की इसकी व्याख्या ८ श्लोक भी उद्धृत है। सद्योजातमन्त्र को ठीक से जान लेने के बाद ही विद्वान् व्यक्ति इसका समाधान कर सकते हैं।

पाशुपतसम्प्रदाय की शाखायें

पशुपति नाम वैदिक-साहित्य में प्रसिद्ध है जिसका अर्थ है कि पशुओं के ईश्वर। पशु का अर्थ संसारी जीव है। इस सम्प्रदाय की चर्चा करते हुए बादरायण ने पति या ईश्वर शब्द का प्रयोग शिव या शंकर के अर्थ में किया है। पति-ईश-जगत् का सृष्टा, पालक एवं संहारक है। तत्त्वजिज्ञासुजन दीक्षित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसके अनुयायी इन्द्रियों की स्वस्था एवं शुद्धता पर भार देते हैं। अन्य धर्म के विपरीत या मूक, बधिर आदि व्यक्तियों को इस सम्प्रदाय में अधिकार नहीं है। नित्यनैमित्तिक कर्मों की सूची पाशुपतसूत्र एवं भासर्वज्ञ के भाष्य गणकारिका में दी गयी है। साधना की पाँच अवस्थाओं का वर्णन है। क्रमशः साधक साधना युक्त होकर निर्गुण या निर्विकारस्वरूप में समाहित हो जाता है, जब कोई दुःख से छुटकारा पा जाता है, तो वह अजर अमर हो जाता है और सदा के लिए रुद्र परमात्मा की सान्निध्य में रहने लगता है। यही मुक्ति है। इस शाखा में पाँच वस्तुओं का वर्णन किया जाता है। एक कारण का ज्ञान अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान, २–कार्य जीव जगत् का ज्ञान, ३–योग अर्थात् शिव से जीव की एकता, ४–विधि अर्थात् साधना क्रम, ५–दुःख से निवृत्ति। इन्हें इस सम्प्रदाय में पंचार्थ कहा जाता है, सदाशिव के सद्योजात मन्त्रों का आवर्तन के साथ परमेश्वर की पूजा की जाती है, एतत् अतिरिक्त

पाशुपतधर्म के अनुयायियों के लिए किसी अन्य क्रियाओं का विधान नहीं है। देव और पितृ कार्य वर्जित है। यज्ञ और श्राद्ध कर्म वर्जित है, इस लिए कि उनमें कहीं स्थलविशेष में बलि का विधान है। अतः पाशुपतकाल में देव एवं पितरों की पूजा को बढ़ावा नहीं मिला। एक परमात्मा की भक्ति करते हुए सहज-विचार पूर्वक जीवन था, पवित्र भस्म रमाना प्रचलित था। रुद्राक्ष बिल्वपत्र और पंचाक्षर मन्त्र पूजा के लिए आवश्यक अग समझा जाता था। किन्तु इन सब बातों पर सूत्रों एवं भाष्यों ने अधिक भार नहीं दिया है; इस-लिए कि सहजभाव में बाह्य सामग्री की अपेक्षा नहीं रह जाती है। ये कुछ साधन-भजन अन्तराल साधना के अन्तर्गत यथाशक्ति समयानुसार किये जाते हैं। इस सम्प्रदाय में मुख्यरूप से तीन तत्त्व और तीन प्रमाण हैं। पति, पशुऔर पाश तथा प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण हैं।

ग्रन्थप्रतिपाद्यविषय

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत वस्तु-पदार्थ का उपन्यास, भस्म का महात्म्य, यम-नियम प्रकरण, आयतन प्रकरण, आधिकारिक ऐश्वर्यप्रकरण, षट्सूत्रीकरण ऐश्वर्यनित्यत्व प्रकरण और सद्योजातमन्त्रसम्बन्धी प्रकरण दिये हुए हैं। द्वितीय अध्याय में आधिकारिक कार्य-कारण प्रकरण, आनुषंगिक चर्याप्रकरण एवं वामदेवमन्त्रविषयक प्रकरण प्रस्तुत है। तृतीय अध्याय में विधि-विधान प्रकरण और अघोरमन्त्रसम्बन्धी प्रकरण उपलब्ध है। चतुर्थ अध्याय के अन्त-र्गत विधानज्ञान प्रकरण, आधिकारिक असन्मार्ग चरिप्रकरण एवं आनुषंगिक रूप में तत्पुरुषमन्त्रविषयक प्रकरण आता है प्रथम अध्याय में योगी का लक्षण अर्थात् योगप्रक्रिया का स्वरूप, शून्यागारगुहा प्रकरण, योगविषयक वस्तु-पदार्थ, दुःखान्त प्रकरण अर्थात् निरतिशय स्वात्मसुखासुभूति एवं ईशानमन्त्र-सम्बन्धी प्रकरण वर्णित है।

पशुपतिसम्बन्धी यह प्राकरणिक ग्रन्थरत्न पाशुपतव्रत धारण करने वाले भक्तजनों के लिए अत्यन्त उपयोगी अवगत होता है, अत एव अद्यावधिपर्यन्त प्रस्तुत ग्रन्थरत्न अनुपलब्ध था, किन्तु भगवान् पशुपतिनाथ परमशिव के अनुग्रह से हम पुनः शिवभक्तों को समर्पित करते हुए अत्यन्त आनन्द का अनुभव कर रहे हैं, भगवान् पशुपतिनाथ परमशिव की हम सभी जीवन्मुक्ति के लिए प्रार्थना करते हैं।

कृष्णानन्दसागरः
1987
महाशिवरात्रिः

ॐ श्रीसच्चिदानन्दाय नमः

अथ

पाशुपतसूत्रम्

भगवत्कौण्डिल्यविरचितभाष्योपेतम्

अथातः पशुपतेः पाशुपतं योगविधिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

हितार्थमखिलं येन सृष्टं ब्रह्मादिकं जगत् ।
प्रणम्य तं पशुपतिं शिरसा सदसस्पतिम् ॥ १ ॥
अर्थातिशयसम्पन्नं ज्ञानातिशयमुत्तमम् ।
पञ्चार्थं क्रियते भाष्यं कौण्डिन्येनानुपूर्वशः ॥ २ ॥

आह—वक्ष्यति भगवान् पञ्चार्थम् । अथास्यादिसूत्रं किमिति ? अत्रोच्यते—अथातः पशुपतेः पाशुपतं योगविधिं व्याख्यास्यामः इति । एतत् प्रथमसूत्रं शास्त्रादावुच्चार्यते । तदनन्तरं पदविग्रहः क्रियते । (तदुन्यागिनं योगविधिं व्याख्यास्याम इति ?) अष्टपदं सूत्रम् । तत्र अथ अतः इति द्वे पदे नैपातिके । पशुपतेरित्येतत् पदं परिग्रहार्थेनोच्चार्यते । पाशुपतमिति तद्धितम् । योगविधिमिति सामासिकम् । वि आङिति द्वे पदे । ख्यास्याम इत्याख्यातिकम् । आह—किंप्रयोजनं पदविग्रहः क्रियते ? तदुच्यते—अर्थ-प्रसिद्ध्यर्थम् । कस्मादर्थाप्रसिद्धिः पदानाम् ? यस्मात् पृथगर्थानीह पदानि भवन्ति । यस्मादेवं ह्याह—

यथा विवृतगात्रोऽपि शिरसि प्रावृतो नरः ।
नाभिव्यक्तिं व्रजत्येवं सूत्रं विग्रहवर्जितम् ॥

एवमर्थप्रसिद्ध्यर्थं पदविग्रहः क्रियते । आह—उक्तः पदविग्रहः प्रयोजनं च । इदं तु वाच्यम्—अथ शास्त्रादिः कः इति ? अत्रोच्यते—अथातः पशुपतेरित्येष तावच्छास्त्रादिः । तत्र शास्त्रं तन्त्रं ग्रन्था विद्या च । ग्रन्थार्थ-

योस्तदधिगमोपायत्वात्। पारिमाण्यम् अथशब्दादिशिवान्तं (अ० १–५) प्रवचनम्। संख्या पञ्चाध्यायाः पञ्च ब्रह्माणि अधिकरणं च। अथशब्दातशब्दव्याख्यान (म् ?) वचनस्नानशयनाद्युपदेशाच्च (अ० १, सू० १–३) शिष्याचार्ययोः प्रसिद्धिः। कैवल्यगतानामपि दुःखित्वदर्शनात् कार्यकारणप्रत्यक्षदर्शी विप्रत्वाद् (अ० ५, सू० २७) उपायोपेयप्रत्यक्षदर्शित्वाच्च प्रश्नप्रतिवक्ता ऐश्वर्यावस्थस्यैव मुक्तत्वान्मनोऽमनःसंस्थश्च (अ० २, सू०२७) कामित्वाद् (अ० १, सू० २४) अतः सर्वाचार्यविशिष्टोऽयमाचार्य इति। तथा ब्राह्मणग्रहणात् (अ० ४, सू० २०) स्त्रीप्रतिषेधाद् (अ० १, सू० १३) इन्द्रियजयोपदेशाच्च (अ० ५, सू० ७) उक्तं हि—

बाधिर्यमान्ध्यमन्धत्वं मूकता जडता तथा।
उन्मादः कौण्यं कुष्ठित्वं क्लैब्यं गुदावर्तपंगुतां॥

(एवम्) आदिरहितः षट्विन्द्रियो ब्राह्मणः शिष्यः। स चान्यविशिष्टोऽयं शिष्य इति। तथा देवादिभ्यश्च क्रीडाधर्मित्वात् क्रीडानिमित्ता ईश्वरप्रवृत्तिः। अनुग्रहार्था चाचार्यस्य प्रवचनवक्तृत्वे प्रवृत्तिः तथा भजनचोदनप्रसादशिवत्वलिप्सोपदेशाद् दुःखान्तार्थिनः शिष्यस्येहोपसदनप्रवृत्तिः न तु धर्मार्थकामकैवल्यार्थात्रेति। तथा कामित्वाद् (अ० १, सू० २४) इन्द्रकौशिकादिभ्यश्चाचार्यो दिव्यो निरतिशयक्रीडैश्वर्यस्वाभाव्यादित्यर्थः। चोदनोपसदनसंस्कारवश्यादिदुःखैरभिभूत्वाच्चादिव्या इन्द्रकौशिकाद्याः शिष्या इति। तथा शिष्टप्रामाण्यात् कामित्वाद् (अ० १, सू० २४) अजातत्वाच्च (अ० १, सू० ४०) मनुष्यरूपी भगवान् ब्राह्मणकायमास्थाय कायावतरणे अवतीर्ण इति। तथा पद्भ्यामुज्जयिनीं प्राप्तः। कस्मात् ? शिष्टप्रामाण्यात् चिह्नदर्शनश्रवणाच्च। अत्याश्रमप्रसिद्धं लिङ्गमास्थाय प्रवचनमुक्तवान्; भस्मस्नानशयनानुस्नाननिर्माल्यैकवासोग्रहणाद् (अ० १, सू० २—५ और १०) अधिकरणप्रसिद्ध्यर्थं च स्वशास्त्रोक्ते आयतने शिष्यसम्बन्धार्थं शुचौ देशे भस्मवेद्यामुषितः। अतो रुद्रप्रचोदितः कुशिकभगवानभ्यागत्याचार्ये परिपूर्णपरितृप्त्याद्युत्कर्षलक्षणानि, विपरीतानि चात्मनि दृष्ट्वा, पादावुपसंगृह्य न्यायेन जातिं गोत्रं श्रुतमनृणत्वं च निवेदयित्वा कृतक्षणमाचार्यं काले वैद्यवदवस्थितमातुरवददवस्थितः शिष्यः

पृष्टवान्––भगवन्! किमेतेषामाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानां सर्वदुःखानामैकान्तिकात्यन्तिको व्यपोहोऽस्त्युत नेति? अथोक्तपरिग्रहाधिकारलिप्सासु परापदेशेनोपदेशे सच्छिष्यसाधकपाठप्रसिद्ध्यर्थं कारणपदार्थाधिगमार्थं चात्मनि परापदेशं कृत्वा भगवानेवोक्तवान्—अथेति। अत्र पूर्वप्रकृतापेक्षायामथशब्दः। कथम्? शिष्येणोदीरितं पूर्वं प्रश्नमपेक्ष्योक्तवानथेति एवमयमथशब्दः पृष्टप्रतिवचनार्थोऽस्ति। स दुःखान्त इत्यर्थः॥ १॥

आह—किं परीक्षिताय शिष्याय दुःखान्तः प्रतिज्ञातः उतापरीक्षितायेति? उच्यते––परीक्षिताय। यस्मादाह—अत इति। अत्र अतःशब्दः शिष्यगुणवचने। यस्मादयं ब्रह्मावर्तदेशजः कुलजः पटुविन्द्रियो विविदिषादिसम्पन्नः शिष्यः। पूर्वं चात्रार्थतोऽतःशब्दो द्रष्टव्यः।

अथ स दुःखान्तः कुतः प्राप्यते? केन वाभ्युपायेनेति? तदुच्यते––पशुपतेः। प्रसादादिति वाक्यशेषः। अत्र पशूनां पतिः पशुपतिः। अत्र पशवो नाम सिद्धेश्वरवर्जं सर्वे चेतनावन्तः। कार्यकारणाञ्जना निरञ्जनाश्च पशवः। आह––किं तेषां पशुत्वम्? उच्यते––अनैश्वर्यं बन्धः। कारणशक्तिसन्निरोधलक्षणमस्वातन्त्र्यमनैश्वर्यं बन्धोऽनादिः। बन्धगुण इत्युपचर्यते (?) तत् कथं लक्षणमिति चेत्? तदुच्यते––पश्यनात् पाशनाच्च पशवः। तत्र पाशा नाम कार्यकारणाख्याः कलाः। ताश्च कला उपरिष्टाद् वक्ष्यामः। ताभिः पाशिताः बद्धाः सन्निरुद्धाः शब्दादिविषयपरवशाश्च भूत्वावतिष्ठन्ते इत्यतोऽवगम्यतेऽस्वातन्त्र्यमनैश्वर्यं बन्धः। कार्यकरणरहितस्य पशुत्वं निवर्तत इति चेत्; (न)। तदुच्यते––संहृतानामपि पुनः पुनः संबन्धग्रहणाच्छास्त्रे। किं चान्यत्। पश्यनाच्च पशवः। यस्माद्विभुत्वेऽपि चित्समवेतत्वेऽपि च शरीरमात्रमेव पश्यन्त्युपलभन्ति च न बहिर्द्धानि। कार्यकरणरहिताश्च न कार्यकरणं प्रतिपद्यन्ते त्यजन्ति वा धर्माधर्मप्रकाशदेशकालचोदनाद्यपेक्षितत्वाच्च। अतः सुष्ठूक्तं श्यनात् पानाच्च पशवः यस्मादुक्तं––

साङ्ख्ययोगेन ये मुक्ताः साङ्ख्ययोगेश्वराश्च ये।
ब्रह्मादयस्तिर्यगन्ताः सर्वे ते पशवः स्मृताः॥

पतिः कस्मात्? आप्ति पाति च तान् पशूनित्यतः पतिर्भवति। तान् केनाप्नोति? केन रक्षति? ततो विभुशक्त्या। यस्मात् तत्रापि शक्तिमस्या-

नन्तां नातिवर्तन्ते। विप्रत्वा (त्वा) (अ० ५, सू० २७) स्यानन्ता ज्ञानशक्तिः अपरिमिता। तया अपरिमितया अपरिमितानेव प्रत्यक्षान् पशूनाप्नोतीति पतिः। तथा पालयतीति प्रभुशक्तिः। कस्मात्?। तच्छन्दात् तेषां प्रवृत्तिनिवृत्तिः स्थितिरिष्टानिष्टस्थानशरीरेन्द्रियविषयादिप्राप्तिर्भवति। तत्परिदृष्टानां तत्प्रचोदितानां चेत्यर्थः। एवं पशुपतेरिति कार्यकारणयोः प्रसादस्य चोद्देशः। तस्मात् प्रसादात् स दुःखान्तः प्राप्यते। न तु ज्ञानवैराग्यधर्मैश्वर्यत्यागमात्रादित्यर्थः।

आह—कुत्रस्थस्य कदा कीदृशस्य वा स भगवान् प्रसीदतीति? उच्यते—यदानेन तु तत् प्राप्तं भवति। आह—किं तद् इति? उच्यते—पाशुपतम्। अत्र पशुपतिनोक्तं परिगृहीतं पशुपतिमधिकृत्य चारभ्यत इति पाशुपतम्। यथा वैष्णवं मानसमिति।

किं तदिति? उच्यते—योगम्। अत्रात्मेश्वरसंयोगो योगः। स पुनः पुरुषस्याध्ययनादिनैमित्तिकत्वादन्यतरकर्मजः स्थाणुश्येनवत्। चोदनाध्ययनादिवचनाद् मेषवदुभयकर्मजः। यस्मात् सति विभुत्वे अनधिकारकृतत्वाद् वियोगस्य। वियुक्तस्यैव च संयोग उपदिश्यते। विषयरक्तविरक्तवत् क्रियायोगे। इह तु समाधिलक्षणे योगे संनियम इति।

आह—किं परिज्ञानमात्रादेव तद्योगः प्राप्यते? उच्यते। यस्मादाह–तत्प्राप्तौ विधिं व्याख्यास्यामः। अत्र योगस्य विधिः योगविधिरिति षष्ठीतत्पुरुषसमासः। अत्र सूक्ष्मस्थूलसबाह्याभ्यन्तरसलक्षणविलक्षणक्रियासु विधिसंज्ञा यज्ञविधिवत्। न तु सेनावनादिवत्। कस्मात्? क्रियाणां क्षणिकानां समुदायासम्भवात्। यद्येवं विधिः कस्मात्? विधायकत्वाद् विधिः। उपायोपेयभावाच्च। विधिमिति कर्म।

एवं सदुःखान्तः कार्यं कारणं योगो विधिरिति पञ्चैव पदार्थाः समासत उद्दिष्टाः। ते व्याख्येयाः। व्याख्यानमेतेषां विस्तरविभागविशेषोपसंहारनिगमनानि। तस्माद् अन्यद् व्याख्येयम् अन्यद् व्याख्यानम्। यस्मादाह—व्याख्यास्यामः। अत्र विः विस्तरे विभागे विशेषे च भवति। तत्र विस्तर इति प्रत्यक्षानुमानाप्तवचनमि (? नानि) ति प्रमाणान्यभिधीयन्ते। तत्र प्रत्यक्षं द्विविधम्–इन्द्रियप्रक्षत्यम् आत्मप्रत्यक्षं च। इन्द्रियप्रत्यक्षमिन्द्रियार्थाः

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धघटाद्याः, व्याख्यानतापमूत्रपुरीषमांसलवणप्राणायामैः सिद्धम्। आत्मप्रत्यक्षं तदुपहार (अ० १, सू० ८) कृत्स्नतपो (अ० ३, सू० १९) दुःखान्तादि (अ० ५, सू० ४०) वचनात् सिद्धम्। यथा प्रस्थेन मितो व्रीहिः प्रस्थः। परमार्थतस्त्विन्द्रियार्थसम्बन्धव्यञ्जकसामग्रयं धर्माधर्मप्रकाशदेशकालचोदनाद्यनुगृहीतं सत् प्रमाणमुत्पद्यते। आत्मप्रत्यक्षं तु चित्तान्तःकरणसम्बन्धसामग्रयम्। अनुमानमपि प्रत्यक्षपूर्वकं; चित्तात्मान्तःकरणसम्बन्धसामग्रयं च धर्माधर्मप्रकाशदेशकालचोदनादिस्मृतिहेतुकम् उत्पत्त्यनुग्रहतिरोभावकालादि। तैश्चोत्तरसृष्टिकर्तृत्वमनुमीयते कारणस्य। अतो नोत्सूत्रम्। तच्च द्विविधं—दृष्टं सामान्यतोदृष्टं च। तत्र दृष्टमपि द्विविधं—पूर्ववच्छेषवच्च। तत्र पूर्वदृष्टोऽयं षडङ्गुलीयकः स एवेति पूर्ववत्। विषाणादिमात्रदर्शनाद् गौरिति शेषवत्। सामान्यतोदृष्टमपीह गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिं दृष्ट्वा चास्यादित्यादिगतिप्रसिद्धिः। त्रैकाल्येऽप्यर्थाधिगमे निमित्तं प्रमाणम्। आगमो नाम आ महेश्वराद् गुरुपारम्पर्यागतं शास्त्रम्। आगमोऽलौकिकादिव्यवहारहेतुराचक्षितः स्मृतः (०)। रुद्रः प्रोवाच (अ० ५, सू० ८) वचनात् सिद्धिः। एष्वेवोपमानार्थापत्तिसम्भवाभावैतिह्यप्रतिभादीनां व्याख्यायमानानामन्तर्भावः। एवमेतानि त्रीणि प्रमाणानि। प्रमापयिता भगवांश्चोदकः। प्रमाता पुरुषः। प्रमेयाः कार्यकारणादयः पञ्च पदार्थाः। प्रमितिः संवित्। संवित् संचिन्तनं सम्बोधो विद्याभिव्यक्तिरित्यर्थः। उद्देशनिर्देशाधिगमाच्च विविस्तरे भवति। विभागो नाम पदपदार्थसूत्रप्रकरणाध्यायाद्यसङ्करः। विशेषो नाम साध्यसाधनव्यतिरेकः। आङिति व्याख्यामर्यादायां भवति। पदात् पदं सूत्रात् सूत्रं प्रकरणात् प्रकरणम् अध्यायादध्यायम् आ बोधादा परिसमाप्तेरिति, मर्यादावस्थस्यैव च वक्ष्यामः। ख्या प्रकथने। प्रतीताप्रतीताभिः संज्ञाभिः वेदादिविहिताभिः व्यतिरेकेण च व्याख्यास्यामः। स्या इत्येष्ये काले। यावदयमाचार्यो गृहस्थादिभ्योऽभ्यागतं पूर्वमतःशब्दात् परीक्षितं ब्राह्मणं व्रतोपवासाद्यं महादेवस्य दक्षिणस्यां मूर्तौ सद्योजातादिसंस्कृतेन भस्मना संस्करोति उत्पत्तिलिङ्गव्यावृत्तिं कृत्वा मन्त्रश्रावणं च करोति तावदेष्यः कालः क्रियते। म इति प्रतिज्ञायां भवति। उत्थानादिगणे सम्यग्व्यवस्थितस्य व्याख्येय-

व्याख्यानयोर्भगवानेव क्रमशो वक्ता। स्थूलोपायपूर्वकत्वात् सूक्ष्मविधेयाधिगमस्य पूर्वाश्रमनियमप्रतिषेधार्थमत्याश्रमयनियमप्रसिद्धर्थं च (प्राग् ?) विधिः प्रथमं व्यांख्यायते। इत्यत्रायं पदार्थोपन्यासः परिसमाप्त इति ॥ १ ॥

अत्राह—प्रतिपन्नांशो यथाविधि प्रथमं व्याख्यायते। इदमिदानीं चिन्त्यम्। अथास्य कश्चादिः? किं मध्यं? कोऽन्तः? कत्यङ्गो वा विधिरिति? तदुच्यते—भस्मनाद्यो (अ० १, सू० २) निन्दामध्यो (अ० ३, सू० ५) मूढान्तश्च (अ० ४, सू० ८) विधिः। स च त्र्यङ्गो दानयजनतपोङ्ग इति। तत् कथमवगम्यते? यस्मादिदमारभ्यते—

भस्मना त्रिषवणं स्नायीत ॥ २ ॥

अत्र भस्म वामद्रव्यं यदग्नीन्धनसंयोगान्निष्पन्नम्। तत् परकृतं पार्थिवं भुक्तं दीप्तिमत्। ग्रामादिभ्यो भैक्ष्यवद् भस्मार्जनं कर्तव्यम्। स्नानशयानुस्नानकृत्यबन्धुत्वान्निष्परिग्रहत्वादहिंसकत्वाद् उत्कृष्टमेव शुचि प्रभूतं ग्राह्यं साधनत्वात्। अलाभे स्वल्पमपि ग्राह्यम्। आधारोऽप्यलाबुचर्मवस्त्रादिरत्र प्रसिद्धः। आह—किं तेन भस्मना कर्तव्यम्? तदुच्यते—भस्मनेति तृतीया करणार्थे कर्तुः क्रियामादिशति, यथा वाश्या तक्षणं बुद्धया विधानम्। आह—अथ कस्मिन् काले सा क्रिया कर्तव्येति? त्रिषवणम् इति। द्विगुः समासः। त्रीणीति संख्या। सवनमिति कालनिर्देशः। पूर्वसन्ध्या मध्याह्नसन्ध्या अपरसन्ध्येति सन्ध्यात्रयम्। त्रिषवणं त्रिसन्ध्यं त्रिकालमित्यर्थः। आह—त्रिषवणं किमनेन कर्तव्यम्? तदुच्यते—स्नायीत। अत्र स्नानं शौचकार्येण शरीरेष्वागन्तुकानां स्नेहत्वग्लेपमलगन्धादीनां भस्मनापकर्षणं कर्तव्यम्। स्नानं तु भस्मद्रव्यगात्रसंयोजनम्। परमार्थतस्तु स्नानादि पुण्यफलसंयोगधर्मात्मवचनाद् (अ० ५, सू० ३१) आत्मशौचमेवैतत्। केवलं स्नानाद्यकलुषा- (अ० १, सू० १८) पहतपाप्मादिवचनात् (अ० ३, सू० ६) कार्यकरणव्यपदेशेनात्मशौचं व्याख्यायते। इत इत्येतद् आज्ञायां नियोगे च। नियोगत्वान्नियतं नियतत्वान्नियम इत्यर्थः। कस्मात्? प्रतितन्त्रसिद्धत्वाद् अहिंसकत्वाद् निश्रेयसहेतुत्वाच्च। भस्मना स्नेयं; न चाद्भिर्विपरीतत्वादित्यर्थः ॥ २ ॥

किं स्नानमेवैवं भस्मना कर्तव्यम् ? उच्यते । यस्मादाह—

भस्मनि शयीत ॥ ३ ॥

अत्र भस्म तदेव । निरुक्तमस्य पूर्वोक्तम् । भस्मनि इत्यौपश्लेषिकं सन्निधानम् । शय इत्युपशमस्य विश्रामस्याख्या । इत इत्येतदाज्ञायां नियोगे च । भस्मन्येव रात्रौ स्वप्तव्यं नान्यत्रेत्यर्थः । उक्तं हि—

यथा मृगा मृत्युभयस्य भीता उद्विग्नवासा न लभन्ति निद्राम् ।
एवं यतिर्ध्यानपरो महात्मा संसारभीतो न लभेत निद्राम् ॥

किञ्च विशेषार्थित्वात् । विशेषार्थी चायं ब्राह्मणः ।

उक्तं हि—

न विशेषार्थिनां निद्रा चिरं नेत्रेषु तिष्ठति ।
हयानामिव जात्यानामर्धरात्रार्धशायिनाम् ॥

तस्मात् परिवृष्टे भूप्रदेशे दिवा परिग्रहं कृत्वा भस्मास्तीर्याध्ययनाध्यापनध्यानाभिनिविष्टेन प्रवचनचिन्तनाभिनिवेशैश्च श्रान्तेन बाहूपधानेन सद्योजातादिसंस्कृते भस्मनि रात्रौ स्वप्तव्यमित्यर्थः । किमर्थमिति चेत् ? उच्यते—तपोर्थं भूप्रदेशे शौचार्थं विश्रामार्थं वा । समविषमनिम्नोन्नतायां भूमौ यामं यामद्वयं वा स्वप्तव्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

आह—किं स्नानं शयनं च भस्मना प्रयोजनद्वयमेवात्र कर्तव्यम् उतान्यदपि ? सवनान्तस्थस्यास्याशौचकं प्राप्तस्य निर्घातकं किमिति ? तदुच्यते—

अनुस्नानम् ॥ ४ ॥

मन्त्रादिस्नानवत् । अत्र अनु इति पृष्ठकर्मक्रियायां भवति । अनुपानानुगमनवत् । स्नानं तु भस्मद्रव्यसंयोजनमेव । सवनत्रये स्नानस्यान्तरेषु भुक्तोच्छिष्टक्षुतानिष्ठीवितमूत्रपुरीषोत्सर्गादिनिमित्तकम् अशौचकमभिसमीक्ष्य तदनुस्नानं कर्तव्यम् । किमर्थमिति चेत् ?, शौचार्थं लिङ्गाभिव्यक्त्यर्थं च । स्नेयमित्यर्थः ॥ ४ ॥

आह—किं भस्मैवैकं लिङ्गाभिव्यक्तिकारणम् ? भक्तिविवृद्धौ वा अप्रतिषिद्धस्य साधनं किमिति ? तदुच्यते—

निर्माल्यम् ॥ ५ ॥

अत्र भस्मवल्लोकादिप्रसिद्धं निर्माल्यम्। निर् इति निर्मुक्तस्याख्या। माल्यम् इति पुष्पसमूहपर्यायः। तत् परकृतं कारणमूर्त्यारोपितावतारितं निष्परिग्रहं पद्मोत्पलाद्यम्। भक्तिविवृद्धयर्थं च तद् धार्यमित्यर्थः ॥ ५ ॥

आह—भस्मनिर्माल्येन तस्य लिङ्गं व्यक्तं भवतीति क्व सिद्धम्? तदुच्यते—इह। यस्मादाह—

लिङ्गधारी ॥ ६ ॥

अत्र यथान्येषामपि वर्णाश्रमिणामाश्रमप्रतिविभागकराणि लिङ्गानि भवन्ति। तत्र गृहस्थस्य तावद् वासस्त्रयं वैणवी यष्टिः सोदकं च कमण्डलु सोत्तरोष्ठवपनं यज्ञोपवीतादि लिङ्गम्। तथा ब्रह्मचारिणोऽपि दण्डकमण्डलु-मौञ्जीमेखलायज्ञोपवीतकृष्णाजिनादि लिङ्गम्। तथा वानप्रस्थस्यापि करीरचीरवल्कलकूर्चजटाधारणादि लिङ्गम्। तथा भिक्षोस्त्रिदण्डमुण्ड-कमण्डलुकाषायवासोजलपवित्रस्थलपवित्रादि लिङ्गम्। एवमिहापि यदेतत् पाशुपतयोगाधिकरणं लिङ्गमित्याश्रमप्रतिविभागकरं भस्मस्नानशयनानु-स्नाननिर्माल्यैकवासादिनिष्पन्नं स्वशरीरलीनं पाशुपतमिति लौकिकादिज्ञान-जनकं तत्। लीयनाल्लिङ्गनाच्च लिङ्गम्। तद् धारयन् लिङ्गधारी भवति। दण्डधारिवदित्यर्थः ॥ ६ ॥

आह—अथैते स्नानशयनानुस्नानादयोऽर्थाः क्व कर्तव्याः? कुतो वा निर्माल्यस्यार्जनं कर्तव्यम्? कुत्रस्थेन वा तद् धार्यम्? कृतालिङ्गेन वा क्व वस्तव्यम्? तदुच्यते—आयतने। यस्मादाह—

आयतनवासी ॥ ७ ॥

अथ (? त्र) भस्मनिर्माल्यवल्लोकादिप्रसिद्धम् आयननम्। आङ् इति मर्यादायां भवति। यस्मादेते गृहस्थादयः प्रयतनियतशुचिसाध्वाचाराः स्वस्वमर्यादयोपतिष्ठन्ते यजन्ति च शान्तिकपौष्टिकादिभिः क्रियाभिरिति। यजनाच्चायतनम्। तस्मिन् परकृते आयतने वस्तव्यमिति वासी इत्यायतनं परिगृह्णाति। भूप्रदेशे आकाशे वृक्षमूले बहिः प्रादक्षिण्येन वा यत्र क्वचित्

प्रतिवसन् शिष्टमर्यादया आयतनवासी भवति। पुलिनवासवद् व्रसेदित्यर्थः। पुण्यफलवाप्तिश्चास्याशु भवति। उक्तं हि—

ग्रामे वा यदि वारण्ये पुण्यस्थानं हि शूलिनः।
आवासो धर्मतृप्तानां सिद्धिक्षेत्रं हि तत् परम्॥ ७॥

आह—अस्मिन्नायतने प्रतिवसता काः क्रियाः कर्तव्याः? किं स्नानाद्या उपलेपनाद्या वा? आहोस्विद् दृष्टा अस्यान्या वैशेषिक्यः क्रियाः कर्तव्या? यथा चान्या वैशेषिक्यः क्रियाः कर्तव्याः प्रयोजनं च वक्ष्यामः—

हसितगीतनृत्तडुंडुंकारनमस्कारजप्योपहारेणोपतिष्ठेत्॥८॥

अथ त्रिषु स्नानकालेषु सद्योजातादिसंस्कृतेन भस्मना जपता स्नात्वा जपतैवायतनमभिगन्तव्यम्। अभिगम्य च यत् पूर्वं जपति तत् प्रत्याहारार्थं जप्यम् ॐ ॐ ॐ। हसितादीनि तु कृत्वा यत् पश्चाज्जपति तन्नियमार्थं जप्यम्। तदत्र हसितं नाम यदेतत् कण्ठोष्ठपुटविस्फूर्जनमट्टहासः क्रियते तद्धसितम्। गीतमपि गान्धर्वशास्त्रसमयानभिष्वङ्गेण यत्र भगवतो महेश्वरस्य सभायां गौणद्रव्यजकर्मजानि नामानि चिन्त्यन्ते तत्। संस्कृतं प्राकृतं परकृतमात्मकृतं वा यद् गेयम्। नृत्तमपि नाट्यशास्त्रसमयानभिष्वङ्गेण हस्तपादादीनामुत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं चलनमनवस्थानम्। नियमकाले नियमार्थं गेयसहकृतं नृत्तं प्रयोक्तव्यम्। डुंडुंकारो नाम य एष जिह्वाग्रतालुसंयोगान्निष्पद्यते पुण्यो वृषनादसदृशः सः। डुंडुंकरणं डुंडुंकारः। कारशब्दो डुंडुंकारस्योपहाराङ्गावधारणार्थः। नम इति। नाप्योष्ठीयं कर्तव्यं नोपांशु। मानसं तु नमस्करणं नमस्कारः। कारशब्दो वाचिकोपांशुप्रतिषेधार्थं मानसोपहाराङ्गवधारणार्थं चेत्यर्थः। जप्यं नाम सद्योजातादिष्वक्षरपङ्क्त्यां मनसा भावस्य सञ्चारविचारः। तज्जप्यम्। उपेति विशेषणे क्रियोपसंहारे समस्तत्वे च। उपहारणाद् उपहारो व्रतं नियम इत्यर्थः। उपह्रियते निवेद्यते नियोगमात्रकर्तृत्वात् साधकेनेत्युपहारः। (उपतिष्ठेद्)। अत्रोपेत्यभ्युपगमे। अभ्युगतेन विधिस्थेन प्रणतविनतेनेत्यर्थः। तिष्ठेदित्यैकाग्र्यं प्रत्याहारा भावस्थितिमेवाधिकुरुते। सर्वकरणानां वृत्तौ प्रत्याहारं

कृत्वा कायिकवाचिकमानसिकाभिः क्रियाभिरुपहारं कृत्वा भृत्यवदुपहारेण स्थेयम् : अपसव्यं च प्रदक्षिणमुपरिष्टाद् वक्ष्यामः ॥ ८ ॥

आह—कस्य निर्माल्यं धार्यम्? कस्य वा आयतने वस्तव्यम्? क्व चोपस्थेयमिति? तदुच्यते—

महादेवस्य दक्षिणामूर्तेः ॥ ९ ॥

अत्र महान् इत्यभ्यधिकत्वे। सर्वक्षेत्रज्ञानामभ्यधिक उत्कृष्टो व्यतिरिक्तश्च भवतीत्यभ्यधिकः। ऋषिर्विप्रः, अधिपतिः (अ० ६, सू० २७ तथा ४४)। सदाशिवत्वमभ्यधिकत्वं च प्रवक्ष्यामः। अत्र देव इति दिवु क्रीडायाम्। क्रीडाधर्मित्वात्। अग्न्युष्णत्ववत्। क्रीडावानेव भगवान् विद्याकलापशुसंज्ञकं त्रिविधमपि कार्यमुत्पादयति अनुगृह्णाति तिरोभावयति च। उक्तं हि—

अप्रचोद्यः प्रचोद्यैस्तु कामकारकरः प्रभुः।
क्रीडते भगवान् लोकैर्बालः क्रीडनकैरिव ॥

देवस्य इति षष्ठी। स्वस्वामिभावः सम्बन्धः। परिग्रहार्थमेवाधिकुरुते। अत्र दक्षिणेति दिक्प्रतिविभागे भवति। आदित्यो दिशो विभजति। दिशश्च मूर्ति विभजन्ति। मूर्तिर्नाम यदेतद् देवस्य दक्षिणे पार्श्वे स्थितेनोदङ्मुखेनोपान्ते यद् रूपमुपलभ्यते वृषध्वजशूलपाणिनन्दिमहाकालोर्ध्वलिङ्गादिलक्षणं, यद्वा लौकिकाः प्रतिपद्यन्ते महादेवस्यायतनमिति तत्रोपस्थेयम्। दक्षिणामूर्तिग्रहणात् पूर्वोत्तरपश्चिमानां मूर्तीनां प्रतिषेधः। मूर्तिनियोगाच्च मूर्त्यभावे नियमलोपः। भैक्ष्यानुपयोगान्निर्घातानामुक्तत्वाच्चेत्यर्थः। विधिरित्युपदिष्टानामर्थानां भस्मस्नानोपदेशादप्सु स्नानादीनां प्रतिषेधः। भस्मशयनोपदेशाद् विषयशयनादीनां प्रतिषेधः। आयतने वसत्यर्थोपदेशाच्छेषवसत्यर्थप्रतिषेधः। हसिताद्युपदेशाच्छेषोपहारप्रतियेधः। निर्माल्योपदेशात् प्रत्याघ्राणां माल्यानां प्रतिषेधः। भस्मनिर्माल्यलिङ्गोपदेशाच्छेषलिङ्गप्रतिषेधः। महादेवग्रहणादन्यदेवताभक्तिप्रतिषेधः। दक्षिणामूर्तिग्रहणात् पूर्वपश्चिमानां मूर्तीनां प्रतिषेधः। एवं (दक्षिणामूर्तिरित्युक्ते?) अस्य ब्राह्मणस्य पूर्वप्रसिद्धा नियमा नियमैः प्रतिषिध्यन्ते। कीलकप्रतिकीलकवत् पुराणोदकनवोदकवच्चेति ॥

अत्रेदं भस्मप्रकरणं समाप्तम् ।

आह—नियमाभिधानादेव हि संशयः । यत्र यमास्तत्र नियमा । मिथुनमेवैतद् यस्मात् । अतो न संशयः । यमा अस्मिन् तन्त्रे के चिन्त्यन्ते ? उच्यते—प्रसिद्धा यमाः अहिंसादय इति । अत्र त्वन्येषाम्—

अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यासंव्यवहारकौ ।
अस्तेयमिति पञ्चैते यमा वै संप्रकीर्तिताः ॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् ।
अप्रमादश्च पञ्चैते नियमाः संप्रकीर्तिताः ॥

तद्वदस्माकं न भवति । कस्मात् ? नियमनिवृत्तिदर्शनात् । अस्मिन् हि तन्त्रे कालान्तरिता नियमा (नि) वर्तन्ते । (कथम् ?) आ देहपाताद् यमानां न निवृत्तिरस्ति । कस्मात् ? हिंसादिदोषात् । तस्मादहिंसाद्या दश सर्वे ते यमाः प्रत्यवगन्तव्याः ।

आह—यद्येवं नियमनिवृत्तौ भ्रष्टनियमस्य पतनप्रसङ्गः । उच्यते—अवसितप्रयोजनत्वान्न पतनप्रसङ्गः । किञ्च यमानां प्राधान्यात् । उक्तं हि—

पतति नियमवान् यमेष्वसक्तो
न तु यमवान् नियमालसोऽवसीदेत् ।
इति यमनियमौ समीक्ष्य बुद्ध्या
यमबहुलेष्वतिसन्दधीत बुद्धिम् ॥

तस्मान्न पतनप्रसङ्गः । अतः प्रसिद्धा यमा अहिंसादयः । आह—किं प्रसिद्धा इति कृत्वा गृह्यन्ते ?, आहोस्विच्छक्यमेतेषां यमानां सर्वज्ञोक्तशास्त्रतः सद्भावो वक्तुम् ? उच्यते—यद्यन्यत्र प्रसिद्धा इति क्व ? तत्र चिन्त्यते । कस्मात् ? कृतोपदेशात् । यस्मादुक्तं सूत्रतः-कृतम् (अ० ४, सू० ७) इत्यत्र । कृताप्रतिषेधादकृतप्रतिषेधाच्च कृत्स्ना हिंसा तन्त्रे प्रतिषिद्धा द्रष्टव्येत्यर्थः । सा च हिंसा त्रिविधा भवति । दुःखोत्पादनम् अण्डभेदः प्राणनिर्मोचनमिति । तत्र दुःखोत्पादनं नाम-क्रोशनतर्जनताडननिर्भर्त्सनादिबहुभेदोऽपि चतुर्विधस्यापि भूतग्रामस्य मनोवाक्कायकर्मभिर भिद्रोहो न कर्तव्यः । एवमहिंसा भवत्येतेषां जन्तूनाम् । (अण्डभेदो नाम)—दाहतापधूमोपरोधपरिहारार्थ-

मग्निकरणादानसम्प्रदानप्रतिनिधानसन्धुक्षणादीनि न कुर्यात्; नैव कारयेत्। (तथा प्राणनिर्मोचनं नाम)–वस्त्रशिक्यभस्माधारभैक्ष्यभाजनादीनि मुहुर्मुहुर्विवेचयितव्यानि। कस्मात् ? प्राणिनो हि सूक्ष्मचारिणः क्षिप्रमेव विलयं प्रयान्ति। तस्मात् सूक्ष्मैरङ्गपवित्रैः पक्ष्मचामरतालवृन्तैर्वस्त्रान्तरैर्वा मुहुर्मुहुर्विग्रन्थोदकेन वा। हरितेषु तृणेषु नसंसिक्ते भूप्रदेशे भवति। वसन्तग्रीष्महैमन्तिकान् अष्टौ मासान् भिक्षुर्विचक्रमेत्। दयार्थं सर्वभूतानामेकत्र वेर्षासु वसेत्।

वर्षाभेदं तु यः कुर्याद् ब्राह्मणो योगदीक्षितः।
प्राजापत्येन कृच्छ्रेण ततः पापात् प्रमुच्यते॥
शारीरं दृश्यते यत्र भयं कस्याञ्चिदापदि।
दुर्दिने राष्ट्रभङ्गे वा वर्षास्वपि व्यतिक्रमेत्॥
नासूर्यं च व्रजेन्मार्गं नादृष्टां भूमिमाक्रमेत्।
परिपूत्ताभिरद्भिश्च नित्यं कुर्यात् प्रयोजनम्॥
संवत्सरकृतं पापं मत्स्यबन्धस्य यद् भवेत्।
एकाहात् तदवाप्नोति अपूतजलसङ्ग्रही॥
दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥
हिंसकास्तु निवर्तन्ते ब्रह्मत्वमपि ये गताः।
तस्मादपूतमुदकं नोपययुञ्जीत योगवित्॥
अथ नष्टे पवित्रे च गृह्णीयात् त्रिषु वै सकृत्।
नदीप्रस्रवणे चैव गृहस्थेषु च साधुषु॥
काण्डानि यानि गृह्यन्ते कन्दाश्चैव प्ररोहिणः।
बीजानि चैव पक्वानि सर्वाण्येतानि वर्जयेत्॥
यदा न कुर्याद् द्रोहं च सर्वभूतेषु दारुणम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा॥
यो न हिंसति भूतानि स्थावराणि चराणि च।
आत्मानमिव सर्वाणि सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

न यज्ञदानैर्न तपोग्निहोत्रैर्न
ब्रह्मचर्यैर्न च सत्यावाक्यैः ।
न वेदविद्याध्ययनैर्व्रतैर्वा प्राप्यं
फलं यद्यदहिंसकस्य ॥

यो दद्यात् काञ्चनं मेरुं कृत्स्नां चैव वसुन्धराम् ।
समुद्रं रत्नपूर्णं वा न तुल्यं स्यादहिंसया ॥

इत्येवमहिंसा तन्त्रे सिद्धा ।

२. तथा ब्रह्मचर्यं च तन्त्रे सिद्धम् । कस्मात् ? स्त्रीप्रतियेधात् (अ० १, सू० १३), इन्द्रियजयोपदेशाच्च (अ० ५, सू० ७) । त्रयोदशकस्य करणस्यानुत्सर्गो ब्रह्मचर्यमित्युक्तम् । विशेषेण तु जिह्वोपस्थयोरिति । अत्राह—विशेषग्रहणं किम्प्रयोजनम् ? त्रयोदशकस्य करणस्यानुत्सर्गो ब्रह्मचर्यमित्युक्त्वा जिह्वोपस्थयोर्विशेषग्रहणं किम्प्रयोजनं क्रियते ? उच्यते—प्रधानत्वात् । तन्मूलत्वादितरप्रवृत्तेः । तन्मूला ह्येतरेषां प्रवृत्तिर्भवति । कथम् ? जिह्वेन्द्रियविषये उपस्थेन्द्रियविषये वा सक्तः त्रयोदशभिः प्रवर्तते । अत एतदुक्तं विशेषेण (तु) जिह्वोपस्थयोरिति ।

जिह्वोपस्थनिमित्तं हि पतनं सर्वदेहिनाम् ।
तस्मादमित्रवत् पश्येज्जिह्वोपस्थं हि मानवः ॥

अथवा मनःपूर्वकत्वात् सर्ववृत्तीनां तन्निग्रहात् सर्ववृत्तीनां निग्रहः कृतो भवति । उक्तं हि—

मनो हि मूलं सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने ।
शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम् ॥

पुनरप्युक्तम्—

इन्द्रियैः प्रसृतैर्दुःखमिन्द्रियैर्निभृतैः सुखम् ।
तस्मादिन्द्रियरूपेभ्यो यच्छेदात्मानमात्मना ॥

इन्द्रियाणि हि तत् सर्वं यत् स्वर्गनरकावुभौ ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च ॥

अतो जन्म अतो दुःखमतो मृत्युभयं तथा ।
इन्द्रियाणां प्रसङ्गाद् वै तस्मादेतान् जयामहे ॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

रज्जुरेषा निबन्धाय या स्त्रीषु रमते मतिः ।
छित्त्वैनां कृतिनो यान्ति नैनां त्यजति दुष्कृती ॥

स्त्रीहेतोर्निर्गमो ग्रामात् श्रीकृते क्रयविक्रयः ।
स्त्रियो मूलमनर्थानां नैनां प्राज्ञः परिष्वजेत् ॥

विषमग्निरसिर्बाणः स्फुटं कृत्वा(?त्या)विभीषिका ।
माया रूपवती ह्येषा यां स्त्रियं मन्यते जनः ॥

अमेध्यपूर्णे कृमिजन्तुसङ्कुले
स्वभावदुर्गन्ध अशौच अध्रुवे ।
कलेवरे मूत्रपुरीषभाजने रमन्ति
मूर्खा न रमन्ति पण्डिताः ॥

माद्यतीति स्त्रियं दृष्ट्वा सुरां पीत्वा न माद्यति ।
तस्माद् दृष्टिमदां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥

अधोमुखेनादंष्ट्रेण जघनान्तरचारिणा ।
सर्वशास्त्राचिकित्स्येन जगद् दष्टं भगाहिना ॥

लोमशेन कुरूपेण दुर्गन्धेन कुचर्मणा ।
हरिणीपदमात्रेण सर्वमन्धीकृतं जगत् ॥

दीप्ताङ्गारसमा नारी घृतकुम्भसमः पुमान् ।
ये प्रसक्ता विलीनास्ते ये स्थितास्ते दिवं गताः ॥

यथाग्निरेधस्संवृद्धो महाज्योतिः प्रकाशते ।
तथेन्द्रियनिरोधेन महाज्योतिः प्रकाशते ॥

ब्रह्मचर्ये स्थितं धैर्यं ब्रह्मचर्ये स्थितं तपः ।
ये स्थिता ब्रह्मर्येण ब्राह्मणा दिवि ते स्थिताः ॥

क्षीरं पिबन्ति मधु ते पिबन्ति
सोमं पिबन्त्यमृतेन सार्धम् ।
मृत्योः पुरस्तादमरा भवन्ति ये
ब्राह्मणा ब्रह्मचर्यं चरन्ति ॥

इत्येवं ब्रह्मचर्यं तन्त्रे सिद्धम् ।

३. तथा सत्यं तन्त्रे सिद्धम् । तच्च द्विविधम् । तद्यथा—परिदृष्टार्थभूतार्थं वचनं वाक्सत्यं चेति । तत्र परिदृष्टार्थभूतार्थं वचनं सत्यं तन्त्रे सिद्धम् । कस्मात् ? व्याख्यानोपदेशात् (अ० १, सू० १), विद्वदुपदेशाच्च (अ० ३, सू० १९) । तथा वाक्सत्यमपि तन्त्रे सिद्धम् । कस्मात् ? वाग्विशुद्ध्युपदेशात् (अ० ५, सू० २७) । इह स्वशास्त्रोक्तं भाषतोऽनृतमपि सत्यमापद्यते । कस्मात् ? शुद्धिवृद्धिकरत्वात् । यस्मादाह—

स्वर्गमनृतेन गच्छति दयार्थमुक्तेन सर्वभूतानाम् ।
सत्येनापि न गच्छति सतां विनाशार्थमुक्तेन ॥

पुनस्त्वाह—

गोब्राह्मणार्थेऽवचनं हिमस्ति (?)
न स्त्रीषु राजन् ! न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे
पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

यथा हि तेषामेव भूतानां हितमनृतमपि सत्यमापद्यते, एवमिहाप्यस्माकं स्वशास्त्रोक्तं भाषतामनृतमपि सत्यमापद्यते । कस्मात् ? विधिविहितत्वात् । इत्येतदपि तन्त्रे सिद्धम् ।

४. तथा असंव्यवहारस्तन्त्रे सिद्धः । कस्मात् ? अव्यक्त–प्रेत—(अ० ३, सू० १ तथा २) उन्मत्त—मूढोपदेशात् (अ० ४, सू० ६ तथा ८) । नेह लोके अव्यक्तप्रेतोन्मत्तमूढाः संव्यवहारं कुर्वन्ति यस्माद्, अतोऽत्रासंव्यवहारस्तन्त्रे सिद्धः । संव्यवहारश्च पुनर्द्विविधः । तद्यथा—क्रयविक्रय-

संव्यवहारो राजकुलसंव्यवहारश्चेति। अत एकतरेणाप्यत्राधिकृतस्यात्मपीडा परपीडा चावर्जनीये भवतः। तत्र यद्यात्मानं पीडयति, तेनेहैव लोके दुःखी भवति। स्यात् परं पीडयति, तत्राप्यस्याधर्मो दुःखादिफलः प्रचीयते। तेनामुष्मिन् लोके तीव्रं दुःखमनुभवति। तस्मादुभयथापि संव्यवहारो वर्जनीयः। भवति ह्यपि—

यश्च पापं प्रकुरुते यश्च पापं प्रशंसति।
सहायश्चोपभोक्ता च सर्वे ते समकर्मिणः॥

उक्तं हि—

विक्रये तु महान् दोषो विक्रयात् पतते यतः।
एष एव क्रये दोषस्तस्मात् तं परिवर्जयेत्॥
प्रच्छन्नं कुरुते पापं न मे जानाति कश्चन।
मुच्यते जनवादेभ्यस्तस्मात् पापान्न मुच्यते॥

पुनरप्युक्तम्—

आत्यिचन्द्रावनिलोऽनलश्च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये
धर्मो हि जानाति नरस्य वृत्तम्॥
नारम्भशीलो न च दम्भशीलः
शास्त्रोपदिष्टानि करोत्यदीनः।
यमेषु युक्तो नियमेषु चैव
मुनिर्भवत्येष्वजरोऽमरश्च ॥

इत्येवम् असंव्यवहारस्तन्त्रे सिद्धः।

५. तथा अस्तेयं तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्? अवासोपदेशात् (अ० १, सू० ११), अनुत्सृष्टान्नप्रतिषेधाच्च (अ० ४, सू० ७)। इह विद्यमानस्याप्येकस्य वाससो मलवदवस्थितस्यावासोपदेशात् परिग्रहपरित्याग उपदिश्यते। किञ्चान्यदपि। परित्यक्तानामन्नपानादीनामुपयोगो दृष्टो यस्मात्। अतोऽत्रास्तेयं तन्त्रे सिद्धम्। स्तेयं च पुनः षड्विधम्। तत्र

अदत्तादानम् अनतिसृष्टग्रहणम् अनभिमतग्रहणम् अनधिकारप्रतिग्रहः अनुपालम्भः अनिवेदितोपयोगश्चेति । अदत्तस्य ग्रहणमदत्तादानम् । अनतिसृष्टग्रहणं नाम बालोन्मत्तप्रमत्तवृद्धदुर्बलानां वित्तापहरणम् । अनभिमतग्रहणं नाम कीटभ्रमरपक्षिपतङ्गादीनाम् अनभिप्रेतद्रव्यापहरणम् । अनधिकारप्रतिग्रहो नाम इह शास्त्रे अनभ्यनुज्ञातानामर्थानां गोभूहिरण्यद्विपदचतुष्पदादीनां ग्रहणम् । अनुपालम्भो नाम कुहककल्कनडम्भविस्मापनवर्धापनादिभिरुपायैः परेभ्यो हिरण्याच्छादनोपयोगः । अनिवेदितोपयोगो नाम भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयचोष्यादीनामन्यतमं यत्किञ्चिद् गुरवेऽनिवेदितमुपयुङ्क्ते स उच्यते अनिवेदितोपयोग इति । एवं षड्विधं स्तेयम् । अस्य षड्विधस्यापि स्तेयस्य परिवर्जनमस्तेयमाहुराचार्याः । भवति ह्यपि—

यदेतद् धनमित्याहुः प्राणा ह्येते बहिश्चराः ।
स तस्य हरते प्राणान् यो यस्य हरते धनम् ॥

उक्तं हि—

सर्वस्वपरिमोष्टा च जीवितान्तकरश्च यः ।
द्वावेतौ समकर्माणौ तस्मात् स्तेयं विवर्जयेत् ॥
न स्तेनस्य परो लोको नायं लोको दुरात्मनः ।
शङ्कितः सर्वभूतानां द्रोहात्मा पाप एव सः ॥
मृदुमापस्तथा यानं पत्रं पुष्पं फलान्यपि ।
असंवृतानि गृह्णीयात् पवित्रार्थीह कार्यवान् ॥
नद्यश्च वाप्यः कूपाश्च तडागानि सरांसि च ।
असंवृतानि गृह्णीयात् प्राजापत्येन कर्मणा ॥"

इत्येवमस्तेयं तन्त्रे सिद्धम् ।

६. अक्रोधस्तन्त्रे सिद्धः । कस्मात् ? । शूद्रप्रतिषेधात् (अ० १, सू०१३), अतितापोपदेशाच्च (अ० २, सू० १६) । इहाध्यात्मिकाधिदैविकानां सर्वद्वन्द्वानां मनसि शरीरे च उपनिपतितानां सहिष्णुत्वमप्रतीकारश्चेति यस्मात् कृतो(ऽतो)ऽत्राक्रोधः तन्त्रे सिद्धः । क्रोधश्च पुनश्चतुर्विधः । तद्यथा—भावलक्षणः कर्मलक्षणः वैकल्यकरः उद्वेगकरश्चेति । तत्र भावलक्षणो नाम सः,

यत्रासूयाद्वेषमदमानमात्सर्यादयो भावाः प्रवर्तन्ते। कर्मलक्षणो नाम यत्र पाणिपादनासाक्ष्यङ्गुलिप्रहरणादयो भावाः प्रवर्तन्ते। उद्वेगकरो नाम यत्र स्वात्मानं परात्मानं वा प्राणैर्वियोजयति। इत्येवं चतुर्विधः क्रोधः। अस्य चतुर्विधस्यापि क्रोधस्य परिवर्जनम् अक्रोधमाहुराचार्याः। तस्माद् देशजातिकुलकर्मसम्बन्धनिन्दायां करणक्रियायां कार्यनिन्दायामाहारनिन्दायां वाधिकृतेन क्रोधो न कर्तव्यः। तत्र देशनिद्रा तावद् भवति। तद्यथा—यत्र भवान् जातस्तत्र देशे ब्राह्मणा एव न सन्तीति यदि कश्चिदधिक्षेपं कुर्यात्, तत्र क्रोधो न कर्तव्यः। तत्रैतत् स्याद् एवम(भि)हिते तीव्रदुःखं मानसमभिव्यज्यते। कथमत्र क्रोधो न भविष्यतीति? उच्यते—न भविष्यति। कस्मात्? परिसङ्ख्यानसामर्थ्यात्। इह मनुष्यलोके देशोऽयं नाम मातापितृहेतुकः औपचयिकः कार्यपिण्डः शरीराख्यः। स तस्माद् भवः (?)। क्षेत्रज्ञस्तु चेतनः सर्वगतः शुचिः। अस्य चास्माकं चान्तरमविदितम्। अपरिदृष्टार्थं भवानेतद् वा ब्रूयात्। अतः क्रोधनिमित्तासम्भवात् परिसङ्ख्यानसामर्थ्येन क्रोधो न कार्यः। एवं शेषेष्वपि द्रष्टव्यम्। भवति ह्यपि—

"शृङ्गवान् नखवान् दंष्ट्री विकृतो रुधिराशनः।
राक्षसो वा पिशाचो वा क्रोधिष्णुर्जायते नरः॥"

पुनश्चाह—

"कङ्कगृध्रसृगालेषु दंशेषु मशकेषु च।
पन्नगेषु च जायन्ते नराः क्रोधपरायणाः॥
विद्विष्टः सर्वभूतानां बह्वमित्रोऽल्पबान्धवः।
क्रूरधर्मा दुराचारः क्रोधिष्णुर्जायते नरः॥
क्रुद्धः करोति पापानि क्रुद्धः पापानि भाषते।
क्रुद्धो भवति निर्लज्जस्तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत्॥"

तथा चोक्तम्—

"यत् क्रोधनो जपति यच्च जुहोति यद्वा
यद्वा तपस्तप्यति यद्ददाति तत्सर्वम् (?)।
वैवस्वतो हरति पूर्तममुष्य सर्वं
मिथ्या श्रुतं भवति तस्य शमोऽपि तस्य॥

धन्यास्ते पुरुषव्याघ्रा ये बुद्ध्या क्रोधमुत्थितम् ।
शमयन्ति महात्मानो दीप्तमग्निमिवाम्भसा ॥
यतो रूपं ततो ज्ञानं यतो ज्ञानं ततस्तपः ।
यतस्तपस्ततः सिद्धिर्यतः सिद्धिस्ततः क्षमा ॥
क्षमा सर्वपरं मित्रं क्रोधः सर्वपरो रिपुः ।
क्षमावतामयं लोकः परो लोकः क्षमावताम् ॥"

एतस्मात् कारणात् क्षन्तव्यमित्येवमक्रोधस्तन्त्रे सिद्धः ।

७. तथा गुरुशुश्रूषा तन्त्रे सिद्धा। कस्मात् ? व्याख्यानोपदेशाद् (अ० १, सू० १), विद्वदुपदेशाच्च (अ० ३, सू० १९)। इह चोक्तं विधिं व्याख्यास्यामः (अ० १, सू० १) इति । अत्राङिति मर्यादायाम् । म इति प्रतिज्ञायां भवति । मयि वर्तते । मयि तिष्ठतीति । यदि चेष्टे वत्स्यसि यदि चेष्टे स्थास्यसि ततस्ते वक्ष्यामः । तत्रेष्टमित्यष्टाङ्गं ब्रह्मचर्यं मर्यादामधिकुरुते । तद्यथा—उत्थानप्रत्युत्थानाभिवादन(गुरुकार्य ?)गुरुकार्यहितकारी अनुत्तरोत्तरवादी पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी प्रेषिताप्रेषितसर्वकार्यकृतज्ञः सर्वनिवेदितात्मा दक्षो दाक्षिण्यानुरक्तः स्नानोद्वर्तसंवाहनादिभिः क्रियाविशेषैः छायेवानुगतो नित्यमिदं कृतम् इदं करिष्ये किं करवाणीति भूत्वा गुरवेऽहरहर्वर्तितव्यम् । यस्तु विद्यां गुरोरधिकृत्य बहुभ्यः सम्प्रयच्छति, अनेनास्य विद्याया दानेन गुरवः शुश्रूषिता भवन्ति । क्षीणे च ब्रह्मचर्ये नियतं गुरुषु यद् गौरवं तद् ब्रह्मचर्यम् । भवति ह्यपि—

"गुरुर्देवो गुरुः स्वामी गुरुर्माता गुरुः पिता ।
यस्यैवं निश्चितो भावः श्रेयस्तस्य न दूरतः ॥
अग्निसूर्येन्दुताराभिश्चाक्षुषोऽर्थः प्रकाशते ।
भूतं भव्यं भविष्यं च गुरुवाक्यैः प्रकाशते ॥
देशकैर्गम्यतेऽध्वानं (?) देशकैर्गम्यतेऽर्णवः ।
देशकैर्गम्यते स्वर्गो गुरुर्मोक्षस्य देशकः ॥
अमृतस्य प्रदातारं यो गुरुं ह्यवमन्यते ।
षष्टिवर्षसहस्राणि नरकं पर्युपासते ॥

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा यत्र प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥
आचार्यं पूजयेद् यस्तु सर्वावस्थं हि नित्यशः।
पूजितस्तेन भवति शिवो वै नात्र संशयः॥
आचार्यमूर्तिमास्थाय शिवो ज्ञानं प्रयच्छति।
तस्माद् वै नावमन्तव्य आचार्यः श्रेय इच्छता॥
ग्रन्थार्थविदुषे नित्यं योगमार्गानुदर्शिने।
सर्वार्थेनापि कर्तव्य परितोषो विजानता॥
ऋचं वा यदि वार्धर्चं पादं वा यदि वाक्षरम्।
सकाशाद् यस्य गृह्णीयान्नियतं तत्र गौरवम्॥
लिङ्गकर्त्री यथा माता शास्त्रकर्ता यथा पिता।
प्रबोधकृद् गुरूस्तेषां तदेवायतनं महत्॥"

इत्येवं गुरुशुश्रूषा तन्त्रे सिद्धा।

८. तथा शौचं तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्? भस्मस्नानोपदेशात् (अ० १, सू० २)। तच्च शौचं त्रिविधम्। तद्यथा—गात्रशौचं भावशौचम् आत्मशौचं चेति। तत्र भस्मस्नानोपदेशात् प्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचम्। आह—यदुक्तं प्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचमिति एतदेवायुक्तम्। कस्मात्? पूर्वोत्तरव्याघातात्। इह पुरस्तादुक्तं प्रसिद्धा यमा अहिंसादयो भवन्ति (इति)। यदिह भूयोऽपि अप्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचमित्यभिधीयते, तस्मादिद पूर्वोत्तरं न संगच्छति। व्याहतं च भवति। एष दोष इत्यतः पूर्वोत्तरव्याघातात्। तत्र यदुक्तं प्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचमित्येतदयुक्तम् (?)। उच्यते—नायं दोषः। कस्मात्? प्रसिद्धिदर्शनात्। इहान्यत्रापि प्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचमिति। एवं ह्याह—

"संसर्गजाश्च ये दोषा ये चान्ये पितृमातृजाः।
अन्नपानकृताश्चैव सङ्करा देहमाश्रिताः।
सर्वांस्तान् दहते भस्म अस्थिमज्जागतानपि॥"

पुनश्चाह—

"केशकीटोपपन्नानि दुष्टान्नानि च यानि वै।
भस्मना स्पृष्टमात्राणि भोज्यान्याहुर्मनीषिणः ॥"

पुनरप्युक्तम्—

मद्यं पीत्वा गुरुदारांश्च गत्वा
स्तेयं कृत्वा ब्रह्महत्यां च कृत्वा।
भस्मोद्ध्वस्तो भस्मराशौ शयानो
रुद्राध्यायी मुच्यते पातकेभ्यः ॥
यः स्नानमाचरेन्नित्यमाग्नेयं संयतेन्द्रियः।
कुलेकविंशमुद्धृत्य स गच्छेत् परमां गतिम् ॥"

एवमन्यत्रापि प्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचम्। तस्माद् युक्तं वक्तुं प्रसिद्धा यमा अहिंसादय इति।

तथोपस्पर्शनप्राणायामजप्यैः (अ०, सू० १४–१६) अकलुषमतिर्भवतीति भावशौचं तन्त्रे सिद्धम्।

"भावमन्तर्गतं दुष्टं न स्नानमपकर्षति।
भावशुद्धिः परा शुद्धिः शेषं भृङ्गारमार्जनम् ॥
मृत्तिकानां सहस्त्रेण जलकुम्भशतेन च।
न शुद्धयन्ति दुरात्मानः पापोपहतचेतसः ॥
सत्यं शौचं तपः शौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया शौचमद्भिः शौचं तु पञ्चमम् ॥
शौचमेव परं तेषां येषां नोत्पद्यते स्पृहा।
प्रतिग्रहे तथारम्भे इन्द्रियाणां च गोचरे ॥"

यस्मादाह—

"सर्वस्वमपि यो दद्यात् कलुषेणान्तरात्मना।
न तेन धर्मभाग् भवति भाव एवात्र कारणम् ॥
यथा यथा हि पुरुषः कल्याणीं कुरुते मतिम्।
तथा तथास्य सिध्यन्ति सर्वार्था नात्र संशयः ॥"

इत्येवं भावशौचं तन्त्रे सिद्धम्।

तथात्मशौचं तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्? यस्मादवमानवरिभवपरिवादाद्यैरपहतपाप्मा भवति (अ० ३, सू० ३—७) इत्यात्मशौचं तन्त्रे सिद्धम्। यस्मादन्यैरप्युक्तं—

"कृत्स्नां महीं पर्यटतः सशैलवनकाननाम्।
अपमानात् परं नास्ति साधनं मनुरब्रवीत्॥

इत्येवं शौचं तन्त्रे सिद्धम्।

९. तथा आहारलाघवं तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्? भैक्ष—(अ० ५, सू० १४) उत्सृष्ट—(अ० ४, सू० ७) यथालब्धोपदेशात् (अ० ५, सू० ३२)। स्वल्पमपि अनुपायतोऽर्जितमलघु, प्रभूतमपि उपायतोऽर्जितं लघ्वेव द्रष्टव्यम्। उक्तं हि—

"चरेन्माधुकरीं वृत्तिं वल्मीकनिचयोपमाम्।
अक्रुद्धश्चाप्रहृष्टश्च तपस्तद्धि सनातनम्॥
यश्चरेत् सर्वभोज्येषु भैक्ष्यं च व्यवहारतः।
भुञ्जीत प्रतिगृह्णीयात् प्रशस्तानां स्वकर्मसु॥
चातुर्वर्ण्यं चरेद् भैक्ष्यं पतितांस्तु विवर्जयेत्।
पयश्चापश्च भैक्ष्यं च सममेतन्न संशयः॥
भैक्ष्यशेषं तु यो भिक्षुर्यदि किञ्चित् समुत्सृजेत्।
ग्रासे ग्रासे तु कर्तव्याः प्राणायामास्त्रयस्त्रयः॥
सन्निधानं न कुर्वीत सर्वावस्थोऽपि योगवित्।
सन्निधानकृतैर्दोषैर्यतिः सञ्जायते कृमिः॥
माधुकरमसङ्कल्पं प्राक्प्रवृत्तमयाचितम्।
तत्तत्कालोपपन्नं च भैक्ष्यं पञ्चविधं स्मृतम्॥
गृहाद् गृहं पर्यटंस्तु यो गृहं परिवर्जयेत्।
परस्य वचनं श्रुत्वा दुष्टवेश्म विवर्जयेत्॥
अदुष्टापतितं साधुं भिक्षुको यो व्यतिक्रमेत्।
स तस्य सुकृतं दत्त्वा दुष्कृतं प्रतिपद्यते॥
तथैव च गृहस्थस्य निराशो भिक्षुको व्रजेत्।

स तस्येष्टं च पूतं च भिक्षुरादाय गच्छति ॥
अकृते वैश्वदेवे तु भिक्षुके गृहमागते।
उद्धृत्य वैश्वदेवार्थं भिक्षुकं तु विसर्जयेत् ॥
वैश्वदेवकृतान् दोषान् शक्तो भिक्षुर्व्यपोहितुम् ।
नहि भिक्षुकृतान् दोषान् वैश्वदेवो व्यपोहति ॥
दशाहं द्वादशाहं वा यत्र भिक्षा न लभ्यते ।
तद् गृहं वर्जयेद् भिक्षुरूषराणीव कर्षकः ॥
चतुरक्षरसंयुक्तां भिक्षां तु समुदाहरेत् ।
एष प्रव्रजिनां धर्मः शेषस्तु क्रयविक्रयः ॥
न हसेन्न चाभिप्रेक्षेत् भिक्षामिच्छंस्तु भिक्षुकः ।
गोदोहमात्रं सन्तिष्ठेन्नोपतिष्ठेत् कदाचन ॥
जरामरणगर्भेभ्यो भीतस्य नरकादपि ।
भयात् क्षपयते यस्मात् तस्माद् भैक्ष्यमिति स्मृतम् ॥
दधिभक्षाः पयोभक्षा येऽन्ये यावकभक्षिणः ।
सर्वे ते भैक्ष्यभक्षस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥
तप्तकाञ्चनवर्णेन गवां मूत्रेण यावकम् ।
पिबेद् द्वादश वर्षाणि न तद् भैक्ष्यसमं भवेत् ॥
मासि मासि कुशाग्रेण यः पिबेत् सोममग्रजः ।
भैक्ष्यं चाव्यवहारेण तुल्यं भवति वा न वा ॥
भैक्ष्यमन्नं परं श्रेयो भैक्ष्यमन्नं परं शुचि ।
भैक्ष्यं हि व्रतिनां श्रेष्ठं भैक्ष्यमेव परा गतिः ॥
यद्यज्जलं निर्गमनेष्वपेयं
नदीगतं तत् पुनरेव पेयम् ।
तथान्नपानं विधिपूर्वमागतं
द्विजातिपात्रान्तरितं न दुष्यति ॥
लवणमलवणं वा स्निग्धमस्नेहिकं वा
सहरसविरसं वा शुष्कमन्नं द्रवं वा ।
यदि इह निरवद्यं भुञ्जते भैक्ष्यमन्नं
स खलु भवति भिक्षुर्भिक्षुधर्मादलुप्तः ॥"

तथोत्सृष्टं यथालब्धं च तत्रैवावसरप्राप्तत्वात् प्रतितन्त्रसिद्धान्तसिद्धं, सूत्रतोऽर्थनिर्देशं करिष्यामः । इत्येवमाहारलाघवं तन्त्रे सिद्धम् ।

१०. तथा अप्रमादस्तन्त्रे सिद्धः । कस्मात् ? अप्रमादोपदेशात् (अ० २, सू० १२) जप्योपदेशाच्च (अ० १, सू० ८) । इह नित्यं यमेष्वप्रमत्तेनोपस्थितस्मृतिना भवितव्यम् । उक्तं हि—

"अप्रमादो दमस्त्यागो ब्राह्मणस्य यमाः स्मृताः ।
शीलरश्मिसमायुक्तैर्धैर्यात्मा मानसे रथे (?) ॥
तं ब्रह्मरथमारूह्य गर्भजन्मजरायुतान् ।
छिन्दन् मृत्युभयान् पाशान् ब्रह्मभूतोऽवतिष्ठते ॥"

इत्येवमप्रमादस्तन्त्रे सिद्धः । एवं प्रसिद्धा यमा अहिंसादयः ।

आह—अविशेषदोषान्न प्रसिद्धा यमाः । इहान्येषामप्यहिंसादीनि धर्मसाधनानि । इहापि च शास्त्रे तान्येव । तस्मात् साध्यसाधननिष्ठास्वप्यविशेषः । उच्यते—न । अतिप्रसङ्गादनेकान्ताच्च । यदि धर्मसाधनास्तित्वमात्रसाधर्म्यादहिंसादीनां त्यागः क्रियते तस्मात् कार्यकारणक्षेत्रज्ञधर्माधर्मसुखदुःखसंसारपदार्थादयोऽपि त्याज्याः । अथ नैवम्, अनेकान्तः । किञ्च त्यागे कृतिर्हिंसादीनां धर्मसाधनत्वप्रसङ्गः (?) । किञ्च अतिदानातियजनातितपोऽतिगत्यनावृत्त्यादिभिः (अ० २, सू० १५-१७ तथा अ० ४, सू० २०) यमनियमगर्भत्वाद् विधेः सिद्धम् (?) । नियमविशेषणाच्च नाविशेषः । तस्माद् युक्तमुक्तं प्रसिद्धा यमा अहिंसादय इति । अत एतदुक्तं—महादेवस्य दक्षिणामूर्तेः (अ० १, सू० ९) इति ॥ ९ ॥

अत्रेदं यमप्रकरणं समाप्तम् ॥

आह—तस्मिन्नायतने प्रतिवसतः का मात्रा ? सा वाच्या गृहस्थादिवत् । तदुच्यते—न । यस्मादाह—

एकवासाः ।। १० ।।

अत्र एकम् इति संख्या। वास इत्याच्छादने भवति। तस्य वासः पञ्चविधम्। अण्डजं वोड (?ढृ)जं वालजं चर्मजं वा। यत् कुशलेनाभ्युपायेनोपपद्यते तदेकपटलमनेकपटलं वा ग्राम्यादिभ्यो निष्परिग्रहं कौपीनप्रच्छादनमात्रं लज्जाप्रतीकारार्थं चैकं वासो ग्राह्यम्। अस्यैव च सूत्रस्य सामर्थ्यात् सर्वद्रव्यपरित्यागे कृते एकवासो मात्रपरिग्रहः संस्कर्तव्यः शिष्यः। आह—लज्जाविनिवृत्तिरस्य कदा भवतीति? उच्यते—ज्ञानाकलुषाभ्याम्। अत्र यदा प्राप्तज्ञानः क्षीणकलुषश्च भवति तदा तस्य लज्जानिवृत्तिः ॥१०॥

आह—किं विनिवृत्तायामपि लज्जायां नियतमेवैकं वासो ग्राह्यम्, आहोस्विदनियतमिति? उच्यते—अनियतम्। यस्मादाह—

अवासा वा ।। ११ ॥

अत्र अकारो वासःप्रतिषेधे वर्तते। अवाससा नग्नेन यथाजातेन निष्परिग्रहेण भवितव्यम्। आह—अवासस्त्वे किं ते प्रयोजनम्? तद् वाच्यम् एकवासस्त्ववत्। तदुच्यते—निष्परिग्रहार्थम् अलङ्गलख्यापनार्थं चेति, प्रयोजनद्वयं द्रष्टव्यम्। वाशब्दः शक्त्यशक्त्योर्विचारणे। यद्यशक्तस्तदा अनग्नेनैकवाससा भाव्यम्। यदि शक्तस्तदा अवाससा नग्नेन यथाजातेन निष्परिग्रहेण भवितव्यमित्यर्थः। न तु वा विकल्पे। विकल्पार्थासम्भवादित्यर्थः ॥ ११ ॥

आह—तस्मिन्नायतने प्रतिवसता किमादेहपातादनिर्गच्छतैव स्थेयम् ध्यानैकनिष्ठेन शिलावद्, आहोस्विद् दृष्टोऽस्यायतनान्निर्गमः भस्मभैक्ष्योदकार्जनादिनिमित्तं, ग्रामादिप्रवेशो वा? उच्यते—दृष्टः।

यस्मात्—

मूत्रपुरीषं नावेक्षेत् ॥ १२ ॥

अत्र मूत्रं च पुरीषं च मूत्रपुरीषम्। चार्थे द्वन्द्वसमासः। अत्र मूत्रं नाम—यदेतदुदरपर्युषितं निस्सरति बहिः स्रवति तन्मूत्रम्। मोचनान्मूत्रम्।

मूत्रत्वाभिसम्बन्धाद्धि मूत्रं, लोकादिप्रसिद्धमित्यर्थः। पुरीषं नाम्—यदेतत् पीतखादितावलीढानामाहारविशेषाणामाध्यात्मिकेन अग्निना परिपक्वमपानेन स्खलति तत् पुरीषम्। पुरान्निर्गतत्वात् पुरीषत्वाभिसम्बन्धाद् वा पुरीषं, लोकादिप्रसिद्धमित्यर्थः। नकारो दर्शनप्रतिषेधे। न द्रष्टव्यम् इत्यर्थः। अव इति अपवर्जनं नामप्रतिषेधे जातिग्रहणेन्द्रियान्तरप्रतिषेधे चेत्यर्थः। ईक्ष दर्शने। यदेतन्निजं बुद्धीन्द्रियं चक्षुरनेन चक्षुषा अनया बुद्ध्या मनुष्यादीनां मूत्रपुरीषं न द्रष्टव्यम्। न तु गवादीनामित्यर्थः ॥१२॥

आह—किं मूत्रपुरीषसन्दर्शनमात्रमेवास्य प्रतिषिध्यते? उच्यते—न। यस्मादाह—

स्त्रीशूद्रं नाभिभाषेत् ॥१३॥

अत्र स्त्री च शूद्रश्च स्त्रीशूद्रम्। चार्थे द्वन्द्वसमासः। अत्र स्त्री नाम सेयं लोकप्रसिद्धा स्तनजघनकेशवती हावभावविलासयुक्ता पुरुषभावस्वभाविका दिव्या मानुषा अतिरतिरसा विषयमूर्तिरिति कृत्वा प्रतिषिध्यते। अनुभाषणपूर्विका चास्याः प्राप्तिर्भविष्यतीत्यतः स्त्री नाभिभाषितव्येत्यर्थः। शूद्रो नामायं लोकादिप्रसिद्धस्त्रिवर्णपरिचारकः। शोचनाद् द्रोहणाच्च शूद्रः। स खल्वदयालुरिति कृत्वा प्रतिषिध्यते। किमर्थम्? तेनाक्रुष्टश्चाभिहतश्च वा क्रुद्धस्तद्वधार्थं प्रवर्तते। अतो जातिज्ञानतपःश्रुतहानिर्भवति। सूचिते चावमानाद्यभावोऽवमानाद्यभावात् सूचिवृद्ध्योरभावः (?)। अकलुषसूत्रे (अ० १, सू० १८) चास्य दोषनिर्देशं करिष्यामः। नकारो भाषणप्रतिषेधे। नाभिभाषितव्यमित्यर्थः। अभिशब्दः प्रसङ्ग इति। प्रतिषेधे जातिग्रहणे चेतरप्रतिषेधे चेत्यर्थः। भाष् व्यक्तायां वाचि। यदेतत् कर्मेन्द्रियं वाग् अनया वाण्या इति। अतः स्त्रीशूद्रं नाभिभाषितव्यमित्यर्थः॥१३॥

आह—नावेक्षेन्नाभिभाषेदित्युक्तेऽथ किमनेन साधकेनान्धमूकवदवस्थातव्यमिति? उच्यते—न। यस्मादाह—

यद्यवेक्षेद् यद्यभिभाषेत् ॥१४॥

अत्र यदि यदि इत्याशङ्कायाम् । नाभिभाषेदिति वचनान्निषिद्धेऽप्यर्थे गुर्वर्थमात्मार्थं वा भस्मभैक्ष्योदकार्जनादिनिमित्तं ग्रामादीन् प्रविष्टस्य विण्मूत्रयोः स्त्रीशूद्रयोश्च दर्शनमभिभाषणं च भविष्यतीति कृत्वा । अत एतदुक्तं सर्वज्ञेन भगवता यद्यवेक्षेद् यद्यभिभाषेद् इति । अवश्यं भवेदित्यर्थः ॥१४॥

आह—दृष्टे चाभिभाषिते चोपहतेन निर्घातनं किं कर्तव्यम् ? तदुच्यते—उपस्पर्शनम् । यस्मात्—

उपस्पृश्य ॥१५॥

अत्र उप इत्यभ्युपगमे । अभ्युपगमनेन कलुषमतिनेत्यर्थः । स्पृश्य इति भस्मद्रव्यगात्रसंयोजनमेव । उपस्पृश्येति स्नानपर्यायः । सचैलोदकस्पर्शनवत् । स च भस्मना कर्तव्यः, नाद्भिः । कस्मात् ? पूर्वोत्तरव्याघातात् । स्नानस्याप्रसङ्गाच्च । उपस्पृश्येति निष्ठा ॥१५॥

आह—उपस्पृश्य यदि कलुषं न क्षीणं स्यात्, ततो निर्घातनं किं कर्तव्यम् ? तदुच्यते—साकाङ्क्षत्वान्निष्ठाशब्दस्य प्राणायामः कर्तव्यः । यस्मादाह—

प्राणायामं कृत्वा ॥१६॥

अत्र प्राणो नाम—य एष मुखनासिकाभ्यां निस्सरति वायुरेष प्राणः । तस्य आयामो निग्रहो निरोधः स प्राणायामः । स च पुरुषवृत्तिर्द्रष्टव्यः । कस्मात् ? ज्ञानेच्छाप्रयत्नपूर्वकत्वात् प्राणायामस्य च । एकोद्घातो द्विरुद्घातो वा । तथा यथाशक्ति यथाबलं कर्तव्यः । तस्मादुपस्पृश्य पद्मकस्वस्तिकोपस्थाञ्जलिकार्धचन्द्रपीठकदण्डायतसर्वतोभद्रादीनामन्यतमेनासनबन्धेन प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा उपविश्यैतान्यङ्गानि कृत्वा ग्रीवामुन्नाम्य पूरणपूर्वको वा रेचकपूर्वको वा तावत् कर्तव्यो यावन्निगृहीता वायवो, ध्यानीभूतश्च भवति । तत्र ध्यानीभूतो नाम यदा दन्तिवदन्तःशरीरं पूर्णं भवति ।

निगृहीतानां तु लक्षणं—यदा कूर्मवदन्तःशरीरे उच्छ्वासप्रत्युच्छ्वासा वर्तन्ते स्वच्छेन्द्रियश्च भवति, तदा मन्तव्या निगृहीता वायव इति। ततः शनैः शनैर्मोक्तव्या नासिकया, यथोत्पलपत्रमपि नासापुटस्थं न कम्पयति। तदत्र प्रश्नाक्रान्तौ क्रमेणाक्रमितव्यः, अन्तर्भाविऽन्तरे वायवो भावयितव्याः। अन प्राणने। आङिति आसनबन्धनिभृतनिगृहीतकलुषक्षपणविसर्गादिमर्यादामधिकुरुते। यमु बन्धने। बन्धयितव्याः डुकृञ् करणे द्रष्टव्यः। त्वा इति कर्मनिष्ठायाम्। विच्छेदवदित्यर्थः ॥१६॥

आह—अथ कृते प्राणायामे यदि कलुषं न क्षीणं स्यात् ततोऽनेन किं कर्तव्यम्? तदुच्यते—जप्यम्। यस्मादाह—

रौद्रीं गायत्रीं बहुरूपीं वा जपेत् ॥१७॥

अत्र त्वाशब्दसामर्थ्याद् गम्यते प्राणसंयमेन समं जप्यं कर्तव्यम्। उपस्पर्शनवत्। तस्मादत्र रौद्री नाम तत्पुरुषा। रौद्री च कस्मात्? रुद्रप्रापकत्वाद् वा रौद्री। आह—सद्योजातादिबहुप्रकारा, तत्र का सा रौद्री? तदुच्यते—गायत्री। अत्र या रौद्री सा गायत्री। गायत्री च कस्मात्? गीता गातारं त्रायत इति। गायत्रे वा छन्दसि वर्तत इति गायत्री। अत्र रौद्रीग्रहणाद् वैदिक्यादिगायत्रीप्रतिषेधः। इह तु गायत्रीग्रहणात् सद्योजातादीनां प्रतिषेधः। गायत्रीमिति कर्म। बहुरूपी नामाघोरा। बहुरूपी च कस्मात्? बहुरूपस्योक्तपरिग्रहेष्वाकारेषु वर्तत इति बहुरूपी। बहुरूपो वा अस्यां चिन्त्यत इति, बहुरूपप्रापकत्वाद् बहुरूपी। बहुरूपीमिति कर्म। वा इति विकल्पे। उभयोरपि ब्रह्मत्वम् उभयोरपि तुल्यार्थसाधकत्वम्। उभे अपि महेश्वरपरिगृहीते इत्यत एकामनेकां वा उपस्पृश्य जपेदिति मानसी क्रियेत्यर्थः ॥१७॥

आह—उपस्पर्शनप्राणायामजप्याधिकृतस्य का कार्यनिष्पत्तिः? तदुच्यते—अकलुषत्वम्। यस्मादाह—

अकलुषमते ॥१८॥

आह—अकलुषमतिना साधकेन किं कर्तव्यम् ? तदुच्यते—चरितव्यम् ॥ यस्मादाह—

चरतः ॥ १९ ॥

अत्र चरतः इति धर्मार्जनमधिकुरुते। भैक्ष्यचरणत् तपश्चरितव्यं, विहर्तव्यं तपसोऽर्जनं कर्तव्यं, न स्थेयमित्यर्थः। चरत इति वर्तमानकालः ॥ १९ ॥

अकलुषमतेश्चरतो वा अस्य का कार्यनिष्पत्तिः ? तदुच्यते—

ततोऽस्य योगः प्रवर्तते ॥ २० ॥

अत्र ततः इति चर्यापदेशे। ततः चर्याभिनिवेशादनन्तरं नृजन्यधर्मादित्यर्थः। अस्य इति साधकापदेशे। योऽयमकलुषमतिश्चरति तस्येत्यर्थः। आह—किं भवतीति ? तदुच्यते—योगः प्रवर्तते। अध्ययनध्यानदिलक्षणः क्रियायोगश्चरतः प्रवर्तत इत्यर्थः। अत्रात्मेश्वरसंयोगो योगः प्रत्येव्यः। प्र इति आदिकर्मणि, आरम्भे भवति। यदा अकलुषमतिश्चरति तदा प्रवर्तते इत्यर्थात्। तत्र यतः प्रवर्तते ? विषयेभ्यः। प्रत्याहृतचित्तस्य यत् प्रवर्तते तद्योगः (?) यथा प्रवर्तते ? क्रमशः। येन प्रवर्तते ? तपसा प्रवर्तते। (यस्य प्रवर्तते) ? आत्मनः साधकस्य। यस्मिन् प्रवर्तते। योऽयमात्मन्यात्मभावः, स महेश्वरे प्रवर्तत इत्यर्थः ॥ २० ॥

एवं यस्माद् द्रव्यावस्थानकालदेशक्रियाप्रयोगोच्चावचप्रयोजनयमनियमवृत्तिवसत्यर्थप्राणायामप्रत्याहारनिमित्तप्रतिषेधसंशयनिर्घातनशौचनियोगफलोपायाश्च व्याख्याताः, अतोऽत्रायतनप्रकरणं समाप्तम् ॥

अत्राह—किं प्रयोजननिष्ठं तन्त्रम् ? उच्यते—न। योगनिष्ठम्। यस्मादाह–युक्तोत्तरे सत्यपि पदार्थवैलक्षण्ये रङ्गपताकादिवच्छिष्यप्रलोभनार्थमिदमारभ्यते—

दूरदर्शनश्रवणमननविज्ञानानि चास्य प्रवर्तन्ते ॥ २१ ॥

अत्र दूरं नाम यदेतत् दर्शनाद्यं विकरणान्तं माहेश्वरमैश्वरमैश्वर्यम् अनेन कदाचित्प्राप्तपूर्वकं, तस्मिंस्तत्प्राप्तौ च। दर्शनादिष्वाधिकारिकोऽत्र दूरशब्दो द्रष्टव्यः। तत्प्राप्तिश्च योगवृत्ति(व ?) तः। आह—यद्येवं सूत्रतोऽभिधीयन्तां दर्शनादयः। तदुच्यन्ते। (दर्शनम् ?) दर्शनम् इत्यत्रापि च नस्त्रिकं चिन्त्यते। द्रष्टा दर्शनं दृश्यमिति। अत्र द्रष्टा सिद्धिः ज्ञानम्। द्रष्टव्यानि रूपाणि। तत् कृत्स्नेषु विषयेषु समासविस्तरविभागविशेषतश्च दर्शनं प्रवर्तत इत्यर्थः। तथा श्रवणम् इत्यत्रापि नस्त्रिकं चिन्त्यते। श्रोता श्रवणं श्रव्यमिति। तत्र श्रोता सिद्धः। श्रवणमस्य सिद्धिर्ज्ञानम्। श्रव्याः शब्दाः। तदस्य सिद्धस्य श्राव्येष्वर्थेषु समासविस्तरविभागविशेषतश्च श्रवणं प्रवर्तत इत्यर्थः। तथा मननम् इत्यत्रापि च नस्त्रिकं चिन्त्यते। मन्ता मननं मन्तव्यमिति। अत्र मन्ता सिद्धः। मननमस्य सिद्धिर्ज्ञानम्। मन्तव्यानि परचितानि। देवमनुष्यतिर्यग्योनीनां धर्मार्थकाममोक्षचित्तानां मन्ता भवतीत्यर्थः। तथा विज्ञानम् इत्यत्रापि नस्त्रिकं चिन्त्यते। विज्ञाता विज्ञानं विज्ञेयमिति। तत्र विज्ञाता सिद्धः विज्ञानमस्य सिद्धिर्ज्ञानम्। विज्ञेया वृत्तयः। अस्य सिद्धस्य प्रवर्तन्ते स्वतः प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः।

अस्य ज्ञानमस्ति नेति ? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

सर्वज्ञाता ॥ २२ ॥

अत्रोक्तेषु दृश्यश्रव्यादिषु च अशेषेषु सिद्धेश्वरपश्वादिषु निर्विशेषवाची सर्वशब्दो द्रष्टव्यः। ज्ञाता इत्यत्रापि च नस्त्रिकं चिन्त्यते। ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमिति। तत्र ज्ञाता सिद्धः। ज्ञानमस्य सिद्धिर्ज्ञानम्। ज्ञेयं कार्यं कारणं सिद्धाश्चेति। तस्मादेका ज्ञानशक्तिरपरिमितेन ज्ञेयेनानेकेनानेकधोपचर्यते। स्फटिकादीत्यवच्चास्य सर्वतः प्रवर्तत इत्यर्थः॥ २२॥

आह—किमयं सिद्धो ज्ञानमात्रसन्तुष्टः पङ्गुवद्, उत क्रियाशक्तिरप्यस्ति नेति ? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

मनोजवित्वम् ॥ २३ ॥

अत्रागन्तुकत्वात् सर्वज्ञानशक्तिरुक्ता। न तु ऋषित्वविप्रत्व-(अ० ५, सू० २७)वदित्यर्थः। (यस्मात् ?) अत्र मनोजववदित्येवं प्राप्ते समानोपमानत्वाद् मनोजवित्वम् इत्युक्तम्। मनोजवत्। आह—कोऽर्थः सूत्रस्य ? उच्यते—यादृङ् मनसो जवित्वमाशुकारित्वम् ईदृशमस्य सिद्धस्य कर्तृत्वे शीघ्रत्वम्। न चास्य प्रजापतिवत् तपोनिमित्तत्वाद् भावोत्तरा प्रवृत्तिः। किन्तु भावस्य बलीयस्त्वात् प्रवृत्तेरुत्पन्नस्वभावः, करोमीति कृतमेव भवति। विनाशयामीति विनष्टं वा। कस्मात् ? दृक्क्रिययोरप्रतीघातत्वात्। त्वमिति भावनिर्देशाद् गम्यते -वित्तमस्य शक्तिः सामर्थ्यम्। ऐश्वर्यमीदृशमित्यर्थः ॥ २३ ॥

आह—किमस्य सिद्धस्य कर्तव्यं, करणं कुतो वा करोति ? तदुच्यते—

कामरूपित्वम् ॥ २४ ॥

कामरूपी इत्यत्रापि च नस्त्रिकं चिन्त्यते। कामी कामः काम्यमिति। तत्र कामी सिद्धः। कामोऽस्येच्छा। काम्यानि रूपाणि। कथम् ? कमु इच्छायां भवति। रूपाणि यावन्ति यादृशानि चेच्छति तावन्ति तादृशानि च करोति। आत्मायत्तानि चास्य रूपकरणानि पृथिव्यादीनि। विभुत्वाच्च करणानां यत्र यत्र रूपाण्यभिनिर्वर्तयति तत्र तत्र चास्य बुद्ध्यादीनां कारणानां वृत्तिलाभो भवति। चक्षुरादिवद् दृष्टान्तात्। नाधिष्ठाता इति चेत् ? तच्च न। कस्मात् ? यस्मादाह—रूपोति। अत्र रूपाण्यधितिष्ठतीति रूपी। दण्डिवत्। रूपीवचनाच्च सर्वेषामेव रूपाणां युगपदेवाधिष्ठाता भवति। विभुत्वादभिन्नो महेश्वरात्। इदं च रुद्रसायुज्य(अ० ५, सू० ३३)-निर्देशाद् गम्यते। (त्वमिति भावनिर्देशाद् गम्यते) वित्तमस्य शक्तिः सामर्थ्यम्। ऐश्वर्यमोदृशमित्यर्थः ॥ २४ ॥

आह—परिमितेषु कृत्येषु अशक्तिदर्शनात् सन्देहः। अथ किमयं सिद्धस्तेषां स्वकृतानां रूपाणां संहारे शक्तः, उत विश्वामित्रवदशक्तः इति ? उच्यते। यस्मादाह—

विकरणः ॥ २५ ॥

अत्र विः विनाशे विनाकरणे। विकरणो भवति। विशिख विरथवत्। करणप्रतिषेधात् कार्यप्रतिषेधः कृतो भवति। कस्मात्? विशिष्टत्वाद् ग्राहकत्वात् सूक्ष्मत्वाच्च करणानाम्। तस्माद् विकरण इति कैवल्यम् ॥२५॥

आह—अविशेषाद् इह साङ्ख्ययोगादीनामपि सहैश्वर्येण कार्यकरण-त्यागं कृत्वा कैवल्यनिष्ठा। इहापि च शास्त्रे। कथं तस्मादविशेषः? अथ मतिः निरतिशये मोक्षे नास्ति वैषम्यं, तथाप्यतिदानादिभिः साध्यसाधन-निष्ठातोऽथ विशेषः उच्यते। नाविशेषः। यस्मादाह—

धर्मित्वं च ॥ २६ ॥

अत्र गुणधर्मेणायं धर्मी भवति। यदेतद् दर्शनाद्य विकरणान्तं महेश्वर-मैश्वर्यमस्येशप्रसादात् स्वगुणसंवृत्तं तेनायं गुणधर्मेण धर्मी भवति। कुतः? त्वमिति भावनिर्देशाद् गम्यते। ऋतेऽपि कार्यकरणे ज्ञाता कर्ता च भवति। ततश्च कैवल्याद्याः सर्वनिष्ठा विशेषिता भवन्ति। चशब्दोऽत्र ज्ञानक्रिया-शक्तिसमारोपणार्थः। एवमात्रस्य सिद्धस्य कामरूपिविकरणवचनात् स्वकृतेषु प्रभु(त्वं) गुणधर्मित्वं च व्याख्यातम्। एतद्युक्तोत्तरे प्रसादाद् गुणाः प्रवर्तन्त इत्यर्थः ॥ २६ ॥

अत्रेदमाधिकारिकमैश्वर्यप्रकरणं परिसमाप्तमिति ॥

आह—किं परकृतेष्वपि देवमनुष्यतिर्यग्योनिरूपेष्वस्य सिद्धस्य प्रभुत्वं चास्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

सर्वे चास्य वश्या भवन्ति ॥ २७ ॥

अत्र सर्वे निरवशेषाः पशुधर्माण इत्यर्थः। चशब्दः स्वकृतपरकृतरूप-समुच्चयार्थः। परकृतेष्वपि देवादिरूपेषु प्रभुत्वं विभुत्वं चास्तीति। अस्य इति सिद्धस्येत्येत्यर्थः। वश्याः विधेयाः। वशवर्तिनश्च भवन्तीत्यर्थः। भवन्ति इति भूतार्थवादो निस्संशयम् ॥ २७ ॥

(आह—किमयं सिद्धस्तेषां कदाचिद् वश्यो भवति नेति? उच्यते—न। यस्मादाह—

सर्वेषां चावश्यो भवति ॥ २८ ॥

अत्रापि सर्वशब्दः पशुष्वेव । सर्वेषाम् इति न्यूनपरिग्रहे । चशब्दोऽभ्यधिकत्वे । अभ्यधिक उत्कृष्टो व्यतिरिक्तश्च भवतीत्यर्थः । अवश्य इति । अकारो भूतपूर्वं वश्यत्वं प्रतिषेधयति । भवति इति भूतार्थवादो निस्संशयम् । यदा गुणैर्युक्तः प्राप्तैश्वर्यः सिद्धास्तदा सर्वेषां शक्तेरवश्यो भवतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

आह – किं स्वशक्त्याध्याक्रान्ता वश्या भवन्ति ? आहोस्विद् धर्ममर्यादां रक्षन्ति गुरुशिष्यवत् ? गुरोः शक्तः शिष्यो नाध्याक्रान्तः । यस्मादाह–

शर्वांश्चाविशति ॥ २९ ॥

अत्रापि सर्वशब्दः पशुष्वेव निरवशेषवाची द्रष्टव्यः । चशब्दः पूर्वोक्तसमुच्चये । न केवलमस्य ते वश्याः, किं त्वावेश्याश्चेति । अत्र आङ् इति आवेशनमर्यादामधिकुरुते । विश प्रवेशने । स तस्य ज्ञानक्रिययोर्विभुत्वेऽपि शक्तिसंयोगादाविश्य प्रत्ययलोपं कर्तुं समर्थो भवतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

आह—किमयं सिद्धस्तेषां कदाचिदावेश्यो भवति नेति ? उच्यते—न । यस्मादाह—

सर्वेषां चानावेश्यो भवति ॥ ३० ॥

अत्रापि सर्वशब्दः पशुष्वेव । सर्वेषाम् इति न्यूनपरिग्रहे । चशब्दोऽभ्यधिकत्वे । अभ्यधिक उत्कृष्टो व्यतिरिक्तश्च भवतीत्यर्थः । अनावेश्य इति । अकारो भूतपूर्वमावेश्यत्वं प्रतिषेधयति । अनावेश्यधर्मा भवति । न व्याधिशेषवदवस्थानम् । भवति इति भूतार्थवादो निस्संशयम् । यदा गुणैर्युक्तः प्राप्तैश्वर्यः सिद्धस्तदा सर्वेषां चानावेश्यो भवतीत्यर्थः ॥३०॥

आह—किमावेशनमात्र एव शक्तो यक्षरक्षःपिशाचादिवद्, उत प्राणैरपि विप्रयोगं यातनाभिश्च संयोगं कर्तुं शक्तो भवतीति ? उच्यते—शक्तः । यस्मादाह—

सर्वे चास्य वध्या भवन्ति ॥ ३१ ॥

अत्रापि सर्वशब्दः पशुष्वेव निरवशेषवाची द्रष्टव्यः। चशब्दः समुच्चये। न केवलमस्य ते वश्याः आवेश्याश्च, किन्तु वध्याश्चेति। अस्य इति सिद्धापदेशे। वध्या इति। वध प्राणविप्रयोगे यातनायां च। प्राणैरपि विप्रयोगं यातनाभिश्च संयोगं कर्तुं समर्थो भवतीत्यर्थः। भवन्ति इति भूतार्थवादो निस्संशये। यदा गुणैर्युक्तः प्राप्तैश्वर्यः सिद्धस्तदा सर्वे चास्य वध्या भवन्तीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

आह—किमयं सिद्धस्तेषां कदाचिद् वध्यो भवति नेति ? उच्यते—न ! यस्मादाह—

सर्वेषां चावध्यो भवति ॥ ३२ ॥

अत्रापि सर्वशब्दः पशुष्वेव। सर्वेषाम् इति न्यूनपरिग्रहे। चशब्दोऽभ्यधिकत्वे। अभ्यधिकः उत्कृष्टो व्यतिरिक्तश्च भवतीत्यर्थः। अवध्य इति। अकारो भूतपूर्वं वध्यत्वं प्रतिषेधयति। यदा गुणैर्युक्तः प्राप्तैश्वर्यः सिद्धस्तदा सर्वेषां चावध्यो भवतीत्यर्थः। एवं परकृतेष्वपि देवादिशरीरेषु रूपेषु प्रभुत्वं च विभुत्वं च व्याख्यातम् ॥ ३२ ॥

अत्रेदं षट्सूत्रीप्रकरणं परिसमाप्तम्।

आह—किमस्य सिद्धस्यैतदैश्वर्यं नित्यम्, आहोस्वित् पार्थिवाप्यतैजसवायव्यव्योममानसाहङ्कारिकमहदात्मकादिवदनित्यमिति ? उच्यते—नित्यम्। यस्मादाह—

अभीतः ॥ ३३ ॥

अत्र अक्षयादि (अ० १, सू० ३४) वचनविरोधाद् अधीतश्चरतीति पाठानुपपत्तिः तस्मादतीतानागतवर्तमानकालभयं न विद्यत इत्यतोऽभीतः ॥ ३३ ॥

आह—अभीतानामपि ब्रह्मादीनां संहारे क्षयः श्रूयते। तस्माद् नाभीतत्वात् नित्यम्। अभीतस्य वा किं लक्षणम् ? तदुच्यते—

अक्षयः ॥ ३४ ॥

अत्र अकारः क्षयप्रतिषेधे। अत्र क्षयो नाम सति पुरुषनित्यत्वे पूर्वमस्य ब्राह्मणस्य तैस्तैरैश्वर्यैरपकर्षः। आहङ्कारिकमहदात्मकादिभिरनित्य

योगः। अयं तु अनेन नित्येन माहेश्वरेणैश्वर्येण योगात् पुरुषः अक्षयः इत्युपचर्यते। राजकोशवत् कुटुम्बिद्रव्यवत्॥ ३४॥

आह—ईश्वराणामपि ययातिप्रभृतीनां जराभिभवनादथ किमयं जीर्यते नेति ? अक्षयस्य वा किं लक्षणम् ? तदुच्यते—

अजरः॥ ३५॥

अत्र अकारो जरां प्रतिषेधति। अत्र जरा नाम पलितस्खालित्यादिलक्षणा कार्यस्य, दृक्क्रियाशक्तिहानिश्च करणानाम्। कस्मात् ? तत्फलभोक्तृत्वादयं जीर्यत इत्युपचर्यते। इदानीं तु कामित्वाद् विकरणधर्मित्वाच्च (अ० १, सू० २४-२६) नास्तीत्यतः अजर इत्युच्यते॥ ३५॥

आह—अजराणामपि देवादीनां संहारादर्वाङ् मृत्युर्दृश्यते। अथ किमस्य मृत्युर्विद्यते नेति ? अजरस्य वा किं लक्षणम् ? तदुच्यते—

अमरः॥ ३६॥

अत्र अकारो मृत्युप्रतिषेधे। मृङ् प्राणत्यागे। अत्र प्राणादिवृत्तिनिरोधो मृत्युरित्युच्यते। कस्मात् ? तत्फलभोक्तृत्वात्। सोऽस्य कामित्वाद् विकरणधर्मित्वाच्च (अ० १, सू० २४-२६) नास्तीत्यतः अमर इत्युच्यते। तस्मादभीताक्षयादिवचनान्नित्यमैश्वर्यमिति सिद्धम्॥३६॥

आह—

सर्वत्र चाप्रतिहतगतिर्भवति॥ ३७॥

सर्वत्र अभिप्रेतार्थेषु प्रवर्तमानस्य महेश्वरेणापि अप्रतिबन्धधर्मित्वं अप्रतीघातः॥ ३७॥

इत्येतैर्गुणयुक्तो भगवतो महादेवस्य महागणपतिर्भवति॥३८।

इत्येतैः पूर्वोक्तैः अवश्यत्वानावेश्यत्वावध्यत्वाभीतत्वाक्षयत्वाजरत्वामरत्वाप्रतीघातत्वाख्यैः अष्टभिर्गुणैः सिद्धिलक्षणैर्युक्तो भगवतो महादेवस्य महागणपतिर्भवति। सर्वपशुभ्योऽभ्याधिकत्वमैश्वर्यातिशयाद् महत्त्वम्। गणाः नन्दिमहाकालादयः। सर्वपश्वादिकार्यस्वामित्वं पतित्वम्॥ ३८॥

एवमध्यायपरिसमाप्तिं कृत्वा युक्तं वक्तुम्—

अत्रेदं ब्रह्म जपेत् ॥ ३९ ॥

....]

बृहच्च तेभ्यः सर्वब्रह्मभ्यः स्वयं भवति । जपेद् इति च मानस-क्रिया । जप्यं प्रत्यवगन्तव्यम् । उक्तं हि—

"जपयज्ञस्तु यज्ञानां विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशु स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥"

अतो मनसैव जप्तव्यम् । किमर्थमिति चेत् ? तदुच्यते—अधर्म-व्युच्छित्त्यर्थं धर्मस्य चाभिवृद्ध्यर्थं तस्य चाकुशलेभ्यो व्यावर्तनार्थं ब्रह्मण्यनवरतपङ्क्त्यामुपनिबन्धनार्थं चेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

आह—किं पुनस्तद् ब्रह्मेति ? अत्रोच्यते–सद्योजाताद्यम् । अथवात्र ब्रह्माध्याययोर्दूरस्थः सम्बन्धः । कथम् ? पशुपतेरित्युक्ते सन्देहः । किं नरपतिसुरपतिप्रजापतिप्रभृतिवदस्यैश्वर्यं कृतमनित्यमागन्तुकं वा ? किं चास्य जन्म मृत्युर्वा विद्यते नेति ? उच्यते—न । यस्मादाह—

सद्योऽजातं प्रपद्यामि ॥ ४० ॥

अत्र सद्यः (इत्य)स्मिन् पदेऽर्थद्वयं चिन्त्यते । संश्च आद्यश्च । आप्ति-पालनवत् । अत्र सदिति नित्यत्वे । कस्मात् ? विनाशहेत्वभावात् । नित्यं ध्रुवमविनाशि पत्युः पतित्वं नान्येषाम्, इत्यतोऽभिधीयते सदिति । आह—(किम्) अयमादिमत्त्वे सति नित्यो मोक्षवत् ? उच्यते—न । यस्मादाह—आद्यः । तद्व्यतिरिक्तस्य हेतोरसम्भवादाद्यमनागन्तुकं पत्युः पतित्वं, नान्येषामित्यर्थः । आह—किं नित्यानादित्वे सति पुरुष-वज्जायते ? उच्यते–न । यस्मादाह–अजातः । अत्र अकारो जन्ममृत्युप्रति-षेधे । जन्ममृत्युरहितो भगवान् निरञ्जनः । कस्मात् ? साञ्जनवृत्त्य-लाभात् । निरभिमानित्वं नान्येषामित्यतः । अजातमिति कर्म । आह—अथैतत् सत्त्वमाद्यत्वमजातत्वं च गुणं कारणे ज्ञात्वा साधकेन किं कर्त-व्यम् ? तदुच्यते–प्रपत्तव्यम् । यस्मादाह—प्रपद्यामि । (मि इ)ति साध-कापदेशः । यथा—'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि' इति । अत्र प्रशब्दः कारणान्तरेषु सत्त्वाद्यत्वाजातत्वप्रतिषेधार्थो भृशार्थश्च । तस्मात्

सर्वभावानभिष्वङ्गेण तदेव कारणं प्रपत्तव्यम् । शरणमभ्युपगन्तव्यमित्यर्थः ॥ ४० ॥

आह—अत्र प्रपन्नः किं करिष्यति ? किं वा दास्यति ? तदुच्यते—पूजां करिष्यत्यात्मानं च दास्यति । यथाह—

सद्योऽजाताय वै नमः ॥ ४१ ॥

आह—सत्त्वमाद्यत्वमजातत्वं च पूर्वोक्तम् । सद्योऽजाताय इति चतुर्थी । वैशब्दः सम्भावने । सत्त्वमाद्यत्वमजातत्वं च धर्मान् सम्भाव्य ब्रवीति—सद्योऽजाताय वै नमः । नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च । नमस्कारेणात्मानं प्रयच्छति, पूजां च प्रयुङ्क्त इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

आह—किंप्रयोजनमात्मानं महेश्वराय प्रयच्छति ? किमस्य दुःखं वा ? किं वा महेश्वरान्मृगयते ? किं वा स्वयमुत्पादितानुगृहीततिरोभावितानां पशूनां पतिः, उत परैरिति ? उच्यते-स्वयम् । यस्मादाह—

भवे भवे नातिभवे ॥ ४२ ॥

अत्र भवे भवे इति वीप्सा । भव इति विद्याकलापशूनां समस्तानां ग्रहणम् । भवः कस्मात् ? भवनभावनकृतत्वात् । यस्माद् देवमनुष्यतिर्यक्त्वेन (भवति) भावयति च तानीश्वरः । धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याणां भवनभावनत्वाद् भवः । तस्य भूयोभूय उत्पत्त्यनुग्रहतिरोभावं च दृष्ट्वा । वीप्सायाः उत्पत्तावुत्पत्तानुग्रहेऽनुग्रहे तिरोभावे तिरोभावे चेत्यर्थः । नातिभवे इति । नकारः कार्यत्वं प्रतिषेधयति । अतिशयितभवेषु मा भवामीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

आह—किं भवाद् वियोगमात्रमेवैकं मृगयते ? तदुच्यते—न । यस्मादाह—

भजस्व माम् ॥ ४३ ॥

अत्र भज इत्यनुग्रहे । स्व इति कारणापदेशे । माम् इत्यात्मापदेशे । भजस्व मां त्रायस्व मां अनुगृह्णीष्व मामित्यर्थः ॥ ४३ ॥

आह—कम् आमन्त्रयते ? कं प्रपद्यते ? कस्मै नमस्कारं करोति ? कस्तं पुरुषं भवाद् मोक्षयति ? कं वा ब्रवीति भजस्व मामिति ? यस्मादाह—

भवोद्भवः ॥ ४४ ॥

अत्र भव इति विद्याकलापशूनामेव ग्रहणम् । तस्योत्पत्तिकर्ता भगवानित्यतो भवोद्भव इति । अत्रोत्पादकानुग्राहकतिरोभावकधर्मि कारणम्, उत्पाद्यानुग्राह्यतिरोभाव्यधर्मि कार्यमित्येतत् कार्यकारणयोर्लक्षणम् । एतस्मिन् कारणे प्रपत्त्यादि क्रमोपयोगि द्रष्टव्यम् ॥ ४४ ॥

एवमत्र भगवत्कौण्डिन्यकृते पञ्चार्थभाष्ये प्रथमोऽध्यायः
सह ब्रह्मणा ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिसमाप्त इति ॥

*

द्वितीयोऽध्यायः

इदानीं द्वितीयमध्यायमवसरप्राप्तं कार्यकारणविशेषेण सम्बन्धं कृत्वा वक्ष्यामि (वक्ष्यामः) ।

आह—यद्येवं तस्माद्, उच्यतां कः सम्बन्धः ? तदुच्यते । यदुक्तं पुरस्ताद् भवोद्भव इति ।

वामः ॥ १ ॥

नामभिः श्रेष्ठ इत्यर्थः । उक्तं हि—

"पुरुषध्वजशृङ्गेषुहविर्भूषलक्ष्मसु ।
वामः श्रेष्ठेष्ववक्रेषु नवस्वर्थेषु कीर्तितः ॥"

इति ॥ १ ॥

आह—किंनिमित्तास्योत्पादकादिप्रवृत्तिः, किंप्रयोजना वा ? तदुच्यते—

देवस्य ।। २ ।।

इति । अत्र देव इति दिवु क्रीडायाम् । क्रीडाधर्मित्वात् क्रीडानिमित्ता । क्रीडावानेव स भगवान् विद्याकलापशुसंज्ञकं त्रिविधमपि कार्यमुत्पादयन् अनुगृह्णाति तिरोभावयति चेत्यतो देवः । प्रवृत्तिश्चोत्पत्त्यादिफला द्रष्टव्या । देवस्य इति तद्धर्मित्वे षष्ठी ।। २ ।।

आह—किं नामद्वयमेवात्र कारणे वितन्यते ? अर्थद्वयमेव वा ? आहोस्विद् अन्यदप्यस्ति नेति ? उच्यते—अस्ति । यस्मादाह—

ज्येष्ठस्य ।। ३ ।।

इति । अत्र परत्वाज्ज्येष्ठः । केषां केन वा परः ? तदुच्यते—सिद्धसाधकपशूनाम् । तदायत्तत्वात् सिद्धसाधकभावस्य, सर्वपशूनां च प्रवृत्तिनिवृत्तिस्थित्यादिफलानाम् इत्यतो ज्येष्ठः परतरः । परतमश्चेति । अकृतकं चास्यैश्वर्यम् । उक्तं हि—

"दृक्क्रियालक्षणाशक्तिस्तत्त्वधर्मोऽस्य नित्यता ।
श्रेष्ठोऽतः सर्वभूतेषु तस्मादेष परः स्मृतः ।।"

इत्येवं परत्वाज्ज्येष्ठः अत्रापि ज्येष्ठस्येति तद्धर्मित्वे षष्ठी ।। ३ ।।

आह—किं (नाम) त्रयमेवात्र कारणे चिन्त्यते, अर्थत्रयमेव वा, आहोस्विद् अन्यदप्यस्ति नेति ? उच्यते—अस्ति ।

रुद्रस्य ।। ४ ।।

इति । अत्र रुत(स्य भयस्य) द्रावणात् संयोजनाद् रुद्रः । तत्र रुतं (संज्ञा ?) अभिलाप इत्यनर्थान्तरम् । द्रावणं नाम (संयोजनम्) । भयं विविधम् । उक्तं हि—

"नानाविधैः कृतैर्यस्माद् भयैश्च विविधैस्तथा ।
संयोजयति भूतानि तस्माद् रुद्र इति स्मृतः ।।"

अत्रापि तद्धर्मित्वे षष्ठी ।। ४ ।।

आह—किं तत् ? कीदृशं वा तदस्येति ? उच्यते—

कलितासनम् ।। ५ ।।

अत्र त्रिविधेन कार्येण विद्याकलापशुसंज्ञकेन तत्रैव स्थित्युत्पत्ति-प्रलयान् प्राप्नुवता कलितं शोभितशब्दितं, नभस्ताराभिरिवेत्यर्थः। आह–यदेतत् पत्युः पतित्वं शक्तिः सामर्थ्यमैश्वर्यं स्वगुणः सद्भावः सतत्त्वं तत्त्वधर्मः, तद् आसनम्। न तु पद्मासनवदुपवेशनलक्षणमित्यर्थः। आसनं कस्मात्? आस्तेऽस्मिन् आसनम्। कार्यमनेन वा अध्यास्त इत्यासनमित्यर्थः। अत आसनम्। अतोऽव्ययोऽमृतो भगवान् कामतः स्वशक्तिस्थं कार्यं स्वशक्त्या अध्यास्ते। तस्मादासनस्थं कार्यं कारणं चेति।

आह–कार्यकारणयोर्वृत्तिसङ्करदोषो गोजाविमहिषीक्षीरवत्। तदुच्यते–न। अङ्गुल्यग्ररूपादित्यसङ्करः। दीपादित्यप्रकाशनयनरश्मिवच्चासङ्करः। आह–सङ्करे अपरिच्छेददोषः ईश्वरपुरुषविद्याकलानां माक्षिककोटद्रव्यवत्। तदुच्यते। एकोत्तरोत्कर्षेण व्याप्यव्यापकभावेनावस्थितानां तत्त्वादीनां नापरिच्छेददोषः। सूत्रत्वाद् व्यापकं महेश्वरतत्त्वं, व्याप्यं पुरुषादिपञ्चविंशकम्। तथा आत्मत्वाद् व्यापकं पुरुषतत्त्वं, व्याप्यं प्रधानादिचतुर्विंशकम्। तथा व्यापकं प्रधानं, व्याप्यं बुद्ध्यादि त्रयोविंशकम्। व्यापिका भवति बुद्धिः, व्याप्यमहङ्कारादिद्वाविंशकम्। तथा व्यापको भवत्यहङ्कारः, व्याप्यान्येकादशेन्द्रियाणि, दशविधं च कार्यम्। व्यापकान्येकादशेन्द्रियाणि, (व्याप्यानि पञ्चभूतसूक्ष्माणि शब्दादीनि)। तथा व्यापकानि पञ्चभूतसूक्ष्माणि शब्दादीनि, व्याप्यानि आकाशादीनि पञ्चमहाभूतानि। तथा व्यापकमाकाशं, व्याप्यं वाय्वादिभूतचतुष्कम्। तथा व्यापको भवति वायुः, व्याप्यं तेजःप्रभृति भूतत्रयम्। तथा व्यापकं भवति तेजः, व्याप्यमबादिद्वयम् तथा व्यापिका भवन्त्यापः, व्याप्या पृथिवी। व्यापिका पृथिवी, व्याप्यानि भूम्युदकरसलक्षणानि कार्याणि। तथा व्यापकानि भूम्युदक(रस) लक्षणानिकारणानि, व्याप्यं देवमनुष्यतिर्यग्योनितृणौषधिवृक्षगुल्मलतावनस्पत्यादिकार्यमनेकविधम्। अतो नापरिच्छेददोषः।

आह–वृत्त्यसङ्करग्रहणे दृष्टान्ताभावादयुक्तम्। तदुच्यते–हरिद्रोदकवद् व्याप्यं व्यापकं च। तद्यथा–हरिद्रोदके स्निग्धत्वेत्यादिधर्मैरपां ग्रहणम्, गन्धवर्णघनक्षारत्वादिभिर्हरिद्रायाः। तथार्णवदेवादिस्थानश-

रीरेन्द्रियविषयादिसन्निवेशेन सुखदुःखसन्निपातेन चेश्वरस्य। एवं पुरुषस्यापि। अपरिणामिधर्मित्वात् सुखदुःखदातृत्वाच्च प्रधानधर्माधर्मादीनां ग्रहणम्। तथा प्रधानस्य मानससङ्कल्पालोचनगननादिभिः करणग्रामस्य विषयाणां च ग्रहणम्। तथा धृतिसंग्रहपक्तिव्यूहावकाशदानादिभिर्धर्मैः पृथिव्यादीनां ग्रहणमिति प्रधानवादिनो मन्यन्ते।

आह—अथेह तन्त्रे कथं कार्यकारणावस्थानम्? तद् वाच्यम्। तदुच्यते-इह यस्मादाह-शर्वसर्वेभ्यः (अ० ३, सू० २५) इति वचनाद्यथासम्भवम्। सति विभुत्वे स्ववृत्त्या कार्यकारणयोः सर्वगतत्वेऽपि स्ववृत्त्यसङ्करः। तस्मादासनस्थं कार्यं कारणं चेति। आह-किं तदासनस्थं कार्यम् आसने नित्यम्, अहोस्विदनित्यमिति? उच्यते-नित्यं कार्यम्। कस्मात्? पत्युर्भवति। कारणेश्वरनित्यत्वात् पतिनित्यत्वम्। इह सद्योजातादि (अ० १, सू० ४०) वचनात् पालको नित्यः। पालकनित्यत्वाच्च पाल्यमपि नित्यम्। कस्मात्? न ह्यसति वाल्ये पालक इत्येव। सति नित्यत्वे तान्येव पाश्वादीनि संयोजयति। मृल्लोहमयप्राकारादिवद् दृष्टान्तात्। वृत्तिलाभश्चोत्पत्तिरित्युच्यते। स्थितिस्थानशरीरेन्द्रियविषयाद्यायतनानां परस्परोपकाराच्चानुग्रहः ईश्वरचोदनानुग्रहः, वियोजनं वृत्तिलोपश्च(?) लोपोऽभावः। तस्मात् त्रिष्वपि कालेषु आसनस्थं कार्यं द्रष्टव्यम्। पृथिव्यां बीजवदित्यर्थः॥ ५॥

आह-किं तत् कार्यं भगवान् युगपदुत्पादयति, क्रमशो वा? किं वा कर्मापेक्षः अनपेक्षो वा? तदुच्यते—यथेष्टम्। यस्मादाह—

सार्वकामिक इत्याक्षते ॥ ६ ॥

अत्र सर्वशब्दो विद्यादिकार्यनिरवशेषवाची द्रष्टव्यः। कामिक इत्यत्रापि नस्त्रिकं चिन्त्यते। कामी कामः काम्यमिति च। तत्रकामी ईश्वरः। कामोऽस्येच्छा। काम्यं विद्यादिकार्यम्। तदक्रमेण क्रमशो वा यथेष्टमुत्पादयति। कस्मात्? कामित्वात्। अकर्मापेक्षित्वं चास्यात एव सिद्धम्। कर्मकामिनश्च महेश्वरमपेक्षन्ते, न तु भगवानीश्वरः कर्म पुरुषं वापेक्षते। अतो न कर्मापेक्ष ईश्वरः। इतिशब्दोऽर्थानां निर्वचनत्वात्

प्रकरणपरिसमाप्त्यर्थः। आह—कामित्वं तत्त्ववैधर्म्यं कुर्यात्। कार्यत्वेन वा परिणामित्वम्, आत्मनो बन्धमोक्षविपर्ययं वा कुर्यात्। तदुच्यते। यस्मादाह—आङ् इति। आङिति कार्यकारणत्वम्, आत्मनो मुक्तानां च मर्यादा। तदुच्यते—उत्पाद्यानुग्राह्य(तिरोभाव्य)कल्पकत्वाभावकत्वेनापरिणामित्वम्, आत्मनो मुक्तानां च पुनर्दुःखैरसंयोजनमित्येषा कारणमर्यादा। स्थाप्या च कार्यमर्यादा। तदुच्यते—उत्पाद्यानुग्राह्यतिरोभाव्यकाल्प्यविकार्यमर्यादा। तदन्यचोद्याधिष्ठेयत्वं च। चक्षिङ् कथने। भगवता कार्येभ्यो भ(ग)वता रुद्रेणाचक्षितम्। भगवतो महेश्वरस्य शक्तिः सनातनी। तद्विद्यादिकार्यं कलितमित्येषोऽर्थः। तथा चोक्तं वर्णितमित्यर्थः(?)॥ ६॥

अत्रेदमाधिकारिकं कार्यकारणप्रकरणं परिसमाप्तमिति।

किं नाम कामित्वं रुद्रकामित्वं च? एतदेव कारणे महाभाग्यम्, आहोस्विदन्यदस्ति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

अमङ्गलं चात्र मङ्गलं भवति ॥ ७॥

अमङ्गलम् इति अत्र साधनजातमधिकुरुते। तदुद्देशेन तु मङ्गलवचननिर्देशं करोति। चशब्दः कारणगुणवचनोपक्षेपे द्रष्टव्यः। उपक्षिप्योत्तरत्र मङ्गलं प्रदक्षिणं च (अ० २, सू० ८) वक्ष्यामः। तस्मादुभयं रुद्रे देवाश्च पितरश्च(अ० २, सू० ११) इत्युपरिष्टाद् वक्ष्यामः। अत्रशब्दो मूर्त्यधिष्ठातरि मनःसंज्ञे कारणे सकले उपतिष्ठता अपसव्यसम्बन्धो द्रष्टव्यः। मङ्गलम् इत्यत्रापि चामङ्गले वक्तव्ये मङ्गलमेव तद् वक्ष्यामः। तदुच्यते–अत्र अमङ्गलं नाम (यद्वैतं?) नग्नत्वापसव्यत्वसम्बन्धो हसिताद्यः साधनवर्गः। स त्विह कारणमूर्तिसामर्थ्यान्मङ्गलं भवति। शैलोदोमावनवत्। मङ्गलं साधनं धर्मनिष्पादकम्। भवति इति भूतार्थवादो निस्संशयम्। कारणमूर्तौ क्रियमाणममङ्गलं मङ्गलं भवतीत्यर्थः॥ ७॥

आह–किं नग्नत्वमपसव्यत्वं वा साधनद्वयमेवोच्यते? न यस्मादाह–

अपसव्यं च प्रदक्षिणम् ॥ ८॥

नग्नत्वं च साधनमेवेत्यर्थः। अत्रामङ्गलनिर्देशार्थत्वात् प्रत्याहारवदुपहार(अ० १, सू० ८)सामान्यमाख्यापनाच्च पृथगपसव्यारम्भः।

तस्मादत्र अपसव्यं नाम यत् सव्याद् विपरीतम्। चशब्दः समुच्चये। न केवलं कारणमूर्ति(साधन?)सामर्थ्यादमङ्गलं मङ्गलमापद्यते, अपसव्यं च प्रदक्षिणमापद्यत इत्यर्थः। प्रदक्षिणं नाम—यदन्येषामपसव्यं तदिह प्रदक्षिणं धर्मनिष्पादकं भवति। ननु यत् तेषां प्रदक्षिणं कस्मात्? उत्सूत्रादिदोषाद् अप्स्नानादिवदित्यर्थः॥ ८॥

आह—समस्तानां कारणगुणानां तु वचनं किमस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

तस्मादुभयथा यष्टव्यः॥ ९॥

इति। अत्र तस्माच्छब्द, कारणगुणवचने। के कारणगुणा इति? तदुच्यते-पतित्वसत्त्वाद्यत्वाजातत्वोत्पादकानुग्राहकतिरोभावकत्व (तपावावेदे?) (वाम)देवज्येष्ठरुद्रकामित्वं च मङ्गलावाप्तिः प्रदक्षिणावाप्तिश्च (?) एतान् कारणगुणान् ज्ञात्वा। अतो ब्रवीति—तस्मादिति। अथैतत् कारणगुणवचनं ज्ञात्वा साधकेन किं कर्तव्यम्? तदुच्यते—उभयथा यष्टव्यः। अत्रोभयथा द्विधेत्यर्थः। यष्टव्य इत्यत्रापि नस्त्रिकं चिन्त्यते। यष्टा यजनं यष्टव्यमिति। अत्र यष्टा साधकः। यष्टव्यो भगवान् महेश्वरः। यजनं भावना। यजनमध्ययन-(म?)ध्या(प?)नस्मरणाद्यम्। तत्फलं-देवनित्यता, सायुज्यम् (अ० ५, सू० १०, ३३) इत्युत्तरत्र वक्ष्यामः॥ ९॥

आह—अनिर्देशात् सन्देहः। कथमुभयथा? द्विधा निर्देशो वाच्यः। तदुच्यते—

देववत् पितृवच्च॥ १०॥

कथमिति? उच्यते—पूर्वमस्य ब्राह्मणस्य देवयजने पितृयजने चाधिकारोऽधिगतः। तस्मात् तेभ्यो देवपितृभ्यो भक्तिव्यावर्तनं कृत्वा उभयथापि महेश्वरे भावमवस्थाप्य यजनं कर्तव्यं नान्यस्य। चशब्दः प्रतिषेधे। यत्तत् पूर्वं देवपितृषु कारकत्वं सम्भावितं, तत् तेषु न विद्यते। अतस्तेषां यजनं न कर्तव्यमित्यर्थः॥ १०॥

आह—यद्येवं तस्माद् उच्यतां देवपितॄणां को दोषः यस्मात् ते न

यष्टव्याः । रुद्रे वा को गुणः ? यस्मात् स एव यष्टव्य इति निर्देशो वाच्यः । अप्स्नानादिवत् । तदुच्यते—

उभयं तु रुद्रे देवाः पितरश्च ॥ ११ ॥

तत्रोभयं द्वयं समस्तमित्यर्थः । तुशब्दो देवपितृषु वैशेषिकं कारणत्वं व्यावर्तयति । रुद्रे इति कारणापदेशम् । रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम् । रुद्र इति वैषयिकं सन्निधानम् । अत्र शक्तिर्विषय इत्यनर्थान्तरम् । ते देवपितरो रुद्रशक्त्यां हार्यधार्यकार्यत्वेन वर्तन्ते, अधीयन्ते, विषये वर्तन्त इत्यर्थः । देवाः पितरश्च । तत्र देवा इति ऋभुषु ब्रह्मादिपिशाचान्तेषु मनुष्यतिर्यग्योनिवर्जं सामान्यसंज्ञा । विधिवत् । पितर इति विशेषसंज्ञा । भस्मस्नानादिवदित्यर्थः । ब्राह्मणदेवदत्तादिवच्च । अत्राह—सामान्यविशेषसंज्ञाभिधाने किं प्रयोजनमिति चेत् ? तदुच्यते—त्रिविधस्यापि कार्यस्य रुद्रे हार्यधार्यकार्यज्ञापनार्थम् । किञ्च कालक्रियास्वाहास्वधामन्त्रान्यत्वदर्शनाद् देवपितृयजनापहृतचित्तव्यावर्तनार्थत्वाच्च । तस्मादन्यानन्यत्वेनापि व्याख्यानमदुष्टम् । चशब्दोऽभ्यधिकत्वे । देवपितृवत् सत्वस्य त्रिविधस्यापि कार्यस्येश्वरे प्रतिष्ठाप्रसवसंयोगवियोगसुखमोहबन्धमोक्षदातृत्वेन च स एव परं कारणं समस्तत्वेनाप्यते इत्येवं चशब्दोऽभ्यधिकत्वे द्रष्टव्यः । तस्माद् दुःखान्तार्थिना ते देवपितरो न यष्टव्याः । तदर्थं भगवान् महेश्वरो यष्टव्य इत्यर्थः ॥ ११ ॥

अत्रेदमानुषङ्गिकं कार्यकारणप्रकरणं परिसमाप्तम् ॥

अत उत्तरस्य विधिप्रकरणस्य सत्यपि पदार्थवैलक्षण्ये साध्यसाधनभावाद् यजनेन सह सम्बन्धं करिष्यामः । कस्मात् ? इह । पुरस्तादुक्तम्—उभयथा यष्टव्यः, देववत् पितृवच्च (अ० २, सू० ९–१०) । यत्र पूर्वं देवपितृभ्यो व्यवर्तितया भक्त्या महेश्वरं यजतोऽनवगमात्, स्वात्मेश्वरसंयोगं योगं प्राप्स्यसि तत्फलं वक्ष्यामः । येन च बलेनोपबृंहितस्य तत्रैव यजने उद्योगोऽभिनिवेशश्च भविष्यति तद् बलं वक्ष्यामः । तदबलप्राप्तौ चोपायं वक्ष्यामः । तदुच्यते—

हर्षाप्रमादी ॥ १२ ॥

इति । अथवान्यो दूरस्थः सम्बन्धः । यस्मादुच्यते—यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तेन तदर्थोत्पत्तिः समाना । आनन्तर्येऽपि असम्बन्धो ग्रहणक्षयादिवद्, (ग्रहनक्षत्रादिवत्) न त्वत्रअमङ्गलादिभिः । कस्मात् ? शेषाभावात् । एवमिहापि दूरस्थ(स्या ?): सम्बन्धः कस्मात् ? इह पुरस्तादुक्तम्—अकलुषमतेः, चरतः, ततोऽस्य योगः प्रवर्तते (अ० १, सू० १८-२०) । अत्रकलुषव्यतिरेकेण येऽन्ये योगव्याघातकरा हेतवः, ताद् वक्ष्यामः । यथा चैका चरितव्या योगप्रापिका इति व्याख्यास्यामः । तथा चर्यान्तरेण तपसा योगप्राप्तिर्यथा भवति, तद् बलं वक्ष्यामः । तद्बलप्राप्तौ चोपायं वक्ष्यामः । हर्षाप्रमादी इति । अत्रहर्षो नाम दिव्येषु विषयेषु विधानजधर्मप्रकाशितेषु प्रतीतितुष्टिप्रमोदाः । ते त्विह प्राप्त्यादिव विश्वामित्रादिस्वरूपा द्रष्टव्याः (?) । कथंलक्षणा इति चेत् ? । तदुच्यते–कार्यकरणविशुद्धिलक्षणाः । तत्र कार्यविशुद्धिलक्षणाः । तत्र कार्यविशूद्धिस्तावत्–यदैतद् देवशरीरं ज्वलन्तं भासा दीप्यन्तं दिवि भुव्यन्तरिक्षे च रुक्मदण्डवदुच्छ्रितमात्मानं पश्यति, तदा दि (वि) अणिमा लघिमा महिमा इति त्रयः कार्यगुणा भवन्ति । अन्तरिक्षे च यस्माद्धर्मविशेषात् (?) तथा करणविशुद्धिरपि–गरिमादिभिः (भुवि) बाह्यं रन्तः—करणेन च दूरविषयग्राहकत्वालोचनसङ्कल्पाध्यवसायाभिमानादयो भवन्ति (?) कस्मात् ? धर्मादिवचनात् । अपिच प्राप्तिः प्राकाम्यम् ईशित्वं (वशित्वं) च यत्र कामावसायित्वमिति पञ्च करणगुणा भवन्ति । इत्येवं यदन्येषामणिमाद्यष्टगुणं चतुष्षष्टिविकल्पं धर्मकार्यमैश्वर्यं तदिह शास्त्रे हर्ष इति इति संज्ञितम् । तेषु मदमकुर्वन् हर्षाप्रमादी भवति । धर्मविद्याबलेनेत्यर्थः ॥ १२ ॥

आह–कुत्रस्थस्य ते हर्षा अभिव्यज्यन्ते ?, कीदृशस्य वा ?तदुच्यते–

चर्यायां चर्यायाम् ॥ १३ ॥

अत्र चर्यायां चर्यायाम् इति वीप्सा । आह–अनिर्देशादिह वीप्सा एकवचनद्विवचनबहुवचनेषु भवति । तत्रैकवचने तावद् भवति ।

"अद्य ते रुधिरं तीव्रं पिबामि पुरुषाधम ! ।
वदेदानीं सुसंरब्धः पुनर्गौरिति गौरिति ॥"

यस्मादुक्तम्–इति । तथा द्विवनेऽपि भवति—

"उभौ ध्वजा वातमलो शुशुभाते रथे रथे ।
संरब्धौ परमक्रुद्धौ युधि घ्नन्तौ परस्परम् ॥"

तथा बहुवचनेऽपि भवति । यस्मादुक्तम्—

"पुरुषे पुरुषे बुद्धिः सा सा भवति निश्चिता ।
तुष्यन्ति च पृथक् सर्वे ते मनुष्यास्तथा तथा ॥"

इत्यतः संशयः । अतः किमेका चरिः उत चरिद्वयम् उत चरिबहुत्वमिति ? उच्यते—एका चरिः क्रियाबहुत्वेऽपि भवति । यथायतने लोके च । तत्रायतने स्नानहसिताद्याः, लोके च क्राथनस्पन्दनाद्याः विधिक्रियाः इत्येवं चरिक्रियातत्त्वं दृष्ट्वा वीप्सार्थेनाभिहितं चर्यायां क्रियायामित्यर्थः । तस्मात् सकृदुच्चारिता वीप्सा बहुवचनेऽपि भवति । वृक्षबलिवत् । किंच–माहात्म्यमिति (अ० २, सु० १४) चर्योत्तरसम्बन्धात् कथ्यते एका चरिः क्रियाबहुत्वे भवति । कार्यकरणविशुद्धिलक्षणा हर्षा इत्युक्तम् । न च विभा(?) कार्यकरणैश्वर्याभिनिवेशः शक्यते कर्तुमित्यतोऽवगम्यते कार्यकरणवतश्चरतो महिमानोऽभिव्यज्यन्त इत्यर्थः ॥ १३ ॥

आह—अप्रमत्तस्याचरतः का कार्यनिष्पत्तिः ? तदुच्यते—

माहात्म्यमवाप्नोति ॥ १४ ॥

माहात्म्यं नाम अयमप्रकाशवत् । तदुच्यते—(य)य स्य सान्निध्यादयं ब्राह्मणः परिदृष्टार्थोऽपि भूत्वा दुष्टाश्वतररथस्थानीयैर्देहेन्द्रियादिभिरपनीयते अपह्रियते तदमाहात्म्यम् । विधियोगाभिनिवेशाशामर्थ्यम् अधर्मबलम् । उक्तं हि—

"ह्रियते बुद्धिर्मनोऽपि नरस्य देहेन्द्रियैः ।
अमूढसंज्ञो दुर्दान्तैर्दुष्टाश्वैरिव सारथिः (?) ॥"

माहात्म्यमतो विपरीतम् । यस्य सान्निध्यादयं ब्राह्मणः स्नानशयनानुस्नानादिक्राथनस्पन्दनाध्ययनध्यानस्मरणकरणसमर्थो भवति परया श्रद्धया युक्तस्तन्माहात्म्यम् ।

आह—किं तदिति ? उच्यते—यदेतत् प्रकृष्टस्य तपसो वीर्यं तपोबलं तपश्शक्तिस्तन्माहात्म्यम् । कथं गम्यते ? चर्यान्तरोक्तत्वात् । यदनन्तरं यदवाप्नोति तत एव तदासादयतीत्यर्थः । आह—प्राप्नोतीति अस्तु पाठः । लब्धुर्भविष्यतीत्युच्यते । अवरम्य क्षणगतिप्रीतिप्राप्त्यर्थत्वात् तेन विधिचरणेन रक्षते हर्षविशेषाणामभिप्रीतिविशेषणमतिगतिसंस्तवनावाप्तिश्च (?) तस्मान्मन्त्र बलवद् धर्मबलमेवास्य माहात्म्यवाप्नोतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

आह—कः सोऽभ्युपायः ? कानि वा तानि धर्मसाधनानि, यैर्हर्षोत्पत्तिर्माहात्म्यलाभश्च भवति ? चरिक्रियाणां वा कतिविधो विभागः ? दानादीनां वा पूर्वोक्तानां विशेषणं किमस्ति नेति ? उच्यते—अस्ति । यस्मादाह—

अतिदत्तमतोष्टम् ॥ १५ ॥

अत्र कुदानानि गोभूहिरण्यसुवर्णादीनि । कस्मात् ? अनैकान्तिकानात्यन्तिकसातिशयफलत्वात्, कुपथाध्वप्रवादाच्च (अ० ४, सू० १८) । तस्मादत्र अतिशब्दो विशेषणम् । अतिदानं चात्मप्रदानम् । कस्मात् ? आत्मनः दातृत्वात्, भूयो दानप्रयोजनाभावात् । स्थानशरीरेन्द्रियविषयाद्यप्रापकत्वात् । ऐकान्तिकात्यन्तिकरुद्रसमीपप्राप्तेरेकान्तेनैवानावृत्तिफलत्वाद् असाधारणफलत्वाच्चात्मप्रदानमतिदानम् ।

तथा कुयजनान्यग्निष्टोमादीनि । कस्मात् ? सङ्ग्रहप्रतिग्रहहिंसादियुक्तेन श्रवेणाभिनिर्वृत्तिदर्शनात् पत्नीरात्रिजदेवतादिसाधारणफलत्वाद्(?) अनित्यसातिशयसङ्कीर्णफलत्वाच्च कुयजनान्यग्निष्टोमादीनि । तस्मादत्रातिशब्दो विशेषम् । अतियजनं नाम यदायतने लोके वा । तत्रायतने स्नानहसिताद्या, लोके च क्राथनस्पन्दनाद्या विधिक्रिया । कस्मात् ? सङ्ग्रहप्रतिग्रहहिंसादिरहितेन क्रमेण स्वशरीरसमुत्थाभिः कायिकवाचिकमानसिकाभिरिज्यते यस्मात् । अतश्चेत्युच्यते अतियजनम् ॥ १५ ॥

आह—किं दानं यजनं च साधनद्वयमेवात्रातिशब्देन विशिष्टं कर्तव्यमिति ? उच्यते—न । यस्मादाह—

अतितप्तं तपस्तथा ॥ १६ ॥

अतिशब्दो विशेषणे। नायान्त्याध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविका-स्तेषां स्वशास्त्रोक्तेन क्रमेण मनसि सम्मतानां मतानाम्(?) अनुपायतः प्रतीकारमकुर्वतां तपो निष्पद्यते। यत्र तृतीयायामात्मसंयोगान्निष्पद्यते, तत् तप इत्यर्थः। तदा शयनार्थं कथम्?। तथातितापेभ्योऽतितपो निष्पद्यते तथा (न?) दानयजनाभ्यामपीति। तथाशब्दः साधनत्रयोपसंहारार्थः। यदा ददाति तदा यजति तप्यति च। यदापि यजति तदा ददाति तप्यति च। यदा तप्यति तदा ददाति यजति च। एवमादि-दीक्षाप्रभृतिरस्य ब्राह्मणस्य(?) (यदा) एभिस्त्रिभिरुपायैर्गङ्गास्त्रं तोवद् धर्मस्यायोऽधर्मस्य व्ययो भवति, तदातिदानादिनिष्पन्नेन प्रकृष्टेन तपसा अस्य ब्राह्मणस्य हर्षोत्पत्तिमाहात्म्यलाभश्च सम्भवतीत्यर्थः॥१६॥

आह—अतिदानादिनिष्पन्नेन प्रकृष्टेन तपसास्य ब्राह्मणस्य का गतिर्भवतीति? उच्यते—अभ्युदयकैवल्यव्यतिरेकेण।

अत्यागतिं गमयते ॥ १७ ॥

अत्र अतिशब्दो विशेषणे। आङ् इति मर्यादायां भवति। कथम-ध्ययनध्यानादिरहितमपि साधक तपोऽतिगतिं गमयति 'तदभ्यासो हरत्येनम्' इति वचनात्। अतिगतिरिति योगपर्यायः। कथं गम्यते? तपःकार्यत्वाद, आनन्त्यब्रह्मसायुज्यवत्। साङ्ख्ययोगाभ्युदयादिगति-विशेषविशेषितत्वाद् उपदिष्टाद् वर्तत इत्यर्थः। तस्मात् तपसः फलं विशेषार्थमभिधीयते योगोऽतिगतिमि(?रि)ति। अगतिमिति कर्म। गमयते। न तावद् गतः गमिष्यति, किन्तु गमयतीत्यर्थः॥ १७॥

आह—अतिदानाद् यथावत् तपसो गुणवचनं किमस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

तस्मात् ॥ १८ ॥

इति। अत्र तस्माच्छब्दस्तपसो गुणवचने। तस्मादतिदानादि-निष्पन्नो धर्मोऽत्यागतिं गमयते निरतिशयां प्रापयति। न स्थानशरीरे-न्द्रियविषयादिप्राप्तौ। ऐकान्तिकात्यन्तिकरुद्रसमीपप्राप्तेरेकान्तेनैवा-नावृत्तिफलत्वं च दृष्ट्वा। अतो ब्रवीति तस्मादिति॥ १८॥

आह—अत्यन्ततपसो मणवचनं ज्ञात्वा कारणं च साधकेन किं कर्तव्यम् ? तदुच्यते—तदर्दमेव ।

भूयस्तपश्चरेत् ।। १९ ।।

अत्र भूयः पुनःसन्धाने द्रष्टव्यः, इष्टापूर्तवत् । कथम् ? हर्षेष्वभिसक्तस्य मुहूर्तमर्धमुहूर्तं वा साधनेभ्यो व्युच्छेदं दृष्ट्वा सन्धाने भूयःशब्दोऽभिहितः । तस्मादत्र तपस्तदेव । निरुक्तमस्य पूर्वोक्तम् । चरेद् इत्यर्जनमधिकुरुते । धर्मानिकसंशयान्यत्वाच्च अपुनरुक्तोऽयं चरशब्दो द्रष्टव्यः ॥ १९ ॥

आह—यद्येवं तस्मादुच्यतां हर्षाणां को दोषोऽभिव्यज्यते ? माहात्म्यस्य वा को गुणः, यस्मात् तद् ग्राह्यमिति ? तदुच्यते—कुरुते माहात्म्यम् । यस्मादाह—

नान्यभक्तिस्तु शङ्करे ।। २० ।।

अयं नकारोऽन्यभक्तिप्रतिषेधे । भक्तिर्भावनेत्यर्थः । तुशब्दो विशेषणे । कथम् ? ये हर्षेष्वभिसक्ताः दूष्यतः (?) तस्करत्वमापन्नाः, ते विशेषेण तु शङ्कराद् दूरथा भवन्ति । शङ्करः कस्मात् ? समस्तसुखनिर्वाणकरत्वाच्छङ्करः शङ्करे इत्यौपश्लेषिकं सन्निधानम् । शङ्करे भावना कर्तव्या नान्यत्रेत्यर्थः । उक्तं हि—

"कर्मणा मनसा वाचा यदश्लक्षणं निषेवते ।
तदभ्यासो हरत्येनं तस्मात् कल्याणमाचरेत् ॥
एवमेते महात्मनः प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ।
यच्चित्तस्तन्मयो भावो गुह्यमेतत् सनातनम् ॥
गच्छंस्तिष्ठन् शयानो वा जाग्रच्चैव स्वपंस्तथा ।
शङ्करे भावनां कुर्याद् यदीच्छेद् योगमात्मनः ॥
यस्मात् क्षयान्ते त्रैलोक्यं शङ्करे याति संक्षयम् ।
तस्मात् संवर्तको धाता शङ्करस्त्वभिधीयते ॥"

एवं शङ्करे भाव उपश्लेषितव्यो नान्यत्रेत्यर्थः ॥ २० ॥

एवं परिसमाप्तिं कृत्वा युक्तं वक्तुम्—

इति अस्य पूर्वोक्तोऽर्थः ॥ २१ ॥

अत्रेदं ब्रह्म जपेत् ।। २१

आह—धर्मपरिणामकत्वात् शङ्करत्वात् सुखद ईश्वरोऽभिहितः। अथान्तरसृष्ट्यां सुखदुःखकारणं किं भवति धर्माधर्मसत्त्वरजोवद् उत नेति ? उच्यते—अत्र उपायः सुखदः तथा वक्ष्यामः यथावान्यत्र व्यवस्थिते संसार-गते कार्ये स एव कारणं परम्। ननु कोर्यफलवन्निरधिकारस्तथा वक्ष्यामो विस्तरशश्चास्मिन् ब्रह्मणि कारणशक्तिं वक्ष्यामः। शक्तिं च ज्ञात्वा यथा साधकोऽष्टभिर्नमस्कारैरात्मानं ददाति, तथा वक्ष्यामः। अत इदारभ्यते—

वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमो रुद्राय नमः ।। २२ ।।

इति। प्रयोगान्यत्वात् प्रयोजनान्यत्वाच्चापुनरुक्ता वामदेवादिशब्दा द्रष्टव्याः। अत्र वामत्वं देवत्वं ज्येष्ठत्वं रुद्रत्वं च (अ० २, सू० १-४) पूर्वोक्तम्। वामदेवज्येष्ठरुद्रायेति चतुर्थी। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च। सम्भावनान्यत्वाच्चापुनरुक्ताः सर्वनमस्कारा द्रष्टव्याः ।। २२ ।।

आह—किं चतुष्कमेवात्र कारणे चिन्त्यते ? नामचतुष्कापदेशेन वा नाम्नि नमस्कारो द्रष्टव्यः ? उच्यते—न। यस्मादाह—

कालाय नमः ।। २३ ।।

अत्र काल इत्येष महेश्वरपर्यायः। कस्मात् ? पूर्वोत्तरसूत्रसामर्थ्यात्। कलायते यस्मात् क्षेत्रसाधनिष्टानि(?) स्थानानि कलादिशरीरेन्द्रियविषया-दिभ्यो वियोगेनेति, ततः कालः। उक्तं हि—

"ब्रह्मादिभूर्जपर्यन्तं जगदेतच्चराचरम्।
यतः कलयते रुद्रः कालरूपी ततः स्मृतः ।।
काल्यान् कलयते यस्मात् कलाभ्यः कालपर्ययात्।
कलनात् कालनाच्चापि काल इत्यभिधीयते ।।"

एवं कालो हि भगवान्। काल्याः क्षेत्रज्ञाः। स्थानानि तु ब्रह्मेन्द्रदेव-पित्रादिवचनाद् ब्राह्मं प्राजापत्यं सौम्यम् ऐन्द्रं गान्धर्वं याक्षं राक्षसं पैशाच-मिति। तथा ब्राह्मणशूद्रगोमृगसर्वभूतकृतान्नादिवचनात् तथा मानुषपशुमृग

पक्षिसरीसृपस्थावरादीनां ग्रहणम्। तथा योगेश्वराः देवेष्वन्तर्भूताः कस्मात्। धर्मबाहुल्यात्। तथा नारकास्तिर्यक्ष्वन्तर्भूताः। कस्मात्? अधर्मबाहुल्यात्। एवं स्थानतश्चतुर्दशकः संसार इत्युपचर्यते, एतेषु कालादिवचनान्महेश्वरो निमित्तम्। कस्मात्? पूर्वोत्तरशरीरेषु भोगलोपाभिव्यक्तिमात्रत्वात्। आदिमान् संसारो द्रष्टव्यः। तत्फलभोक्तृत्वात्। कार्यकरणयोरनादित्वाद्, अनादिः अकृताभ्यागमादित्येतद् भगवत्यभ्यधिकत्वं शेषेषु च पुरुषेषु न्यूनत्वं ज्ञात्वा युक्तं वक्तुं कालाय नमः। अत्रापि कालाय इति चतुर्थी। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च। सम्भावनान्यत्वाच्चापुनरुक्तोऽयं नमस्कारो द्रष्टव्यः॥ २३॥

आह—अथ स्थानशरीरेन्द्रियविषयादीनां किमेष भगवान् प्रभुः कर्ता भवति नेति? उच्यते—प्रभुः कर्तैव। यस्मादाह—

कलविकरणाय नमः॥ २४॥

अत्र कला नाम—कार्यकरणाख्याः कलाः। तत्र कार्याख्याः पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशः। आकाशः शब्दगुणः।

"शब्दस्पर्शगुणो वायुस्तौ च रूपं च तेजसि।
ते रसश्च जले ज्ञेयास्ते च गन्धः क्षितावपि॥"

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। तथा करणाख्याः श्रोत्रं त्वक् चक्षुः जिह्वा घ्राणं पादः पायुः उपस्थः हस्तः वाक् मनः अहङ्कारः बुद्धिरिति। तासां विकरणो भगवानीश्वरः। कस्मात्? दृक्क्रियाशक्त्योरप्रतीघातात् विकरणत्वं नाम स्थानशरीरेन्द्रियविषयादिसन्निवेशेन विस्तरविभागविशेषतश्च कार्यकरणाख्याभिः कलाभिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यादिभिश्च-क्षेत्रज्ञसंयोजनमित्येतद् भगवत्यभ्यधिकत्वं शेषेषु च पुरुषेषु न्यूनत्वं ज्ञात्वा युक्तं वक्तुं कलविकरणाय नमः। अत्रापि कलविकरणाय इति चतुर्थी। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च सम्भावनान्यत्वाच्चापुनरुक्तोऽयं नमःशब्दः॥२४॥

आह—कालनविकरणत्वाद् अवान्तरसृष्ट्यां कर्मक्षये वृत्तिलाभे चोपेक्षते नेति? धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यादीनां वा किमेष भगवान् प्रभुर्भवति नेति? उच्यते—प्रभुः। यस्मादाह—

बलप्रथमनाय नमः ।। २५ ।।

बलं नाम धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्या(णि) इच्छाद्वेष-प्रयत्नादीनि विद्यावर्गः रूपाणि । प्र इति भृशार्थे कामित्वाकर्षणे च । मथनत्वं नाम बलवृत्तिनिरोधनम् उदधिमथनवत् । न वाग्निज्ञानादीनि दुर्बलानि (?) यस्मादुक्तं—

"न ह्यतेजस्विनाशाय तैजसाः प्रभवन्ति वै ।
बलान्यतिबलान्यस्य न भवेऽतिबलानि वै (?) ॥"

इत्येवं भगवत्यभ्यधिकत्वं शेषेषु पुरुषेषु न्युनत्वं ज्ञात्वा युक्तं वक्तुं बल-प्रथमनाय नमः । अत्रापि बलप्रमथनाय इति चतुर्थी । नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च । सम्भावतान्यत्वाच्चापुनरुक्तोऽयं नमस्कारो द्रष्टव्यः ॥ २५ ॥

आह – केषां कालनविकरणमथनानि करोति ? तदुच्यते--भूतानाम् । यस्मादाह--

सर्वभूतदमनाय नमः ।। २६ ।।

अत्र कलावचने पुनरूक्तिदोषान्न पृथिव्यादिषु सर्व (भूत) शब्दः किं तु सिद्धेश्वरवर्जं चेतनेष्वेव सर्वं भूत शब्दः । आह--भूतत्वानुपपत्तेर्न चेतनेषु सर्व भूतशब्दः । तदुच्यते--दमनाय । शमु दमु उपसमे । देवमनुष्यादिनां स्थानशरीरेन्द्रियविषयादिषु या रतिः रञ्जनाधिवासना तत्सर्वमन्तरदृष्ट्या सर्वमीश्वरकृतमेव द्रष्टव्यमित्येतद् भगवत्यभ्यधिकत्वं शेषेषु च पुरुषेषु न्यूनत्वं ज्ञात्वा युक्तं वक्तुं सर्वभूतदमनाय नमः । अत्रापि सर्वभूतदमनाय इति चतुर्थी । नम इत्यात्मदाने पूजायां च । सम्भावनान्यत्वाच्चापुनरु-क्तोऽयं नमस्कारो द्रष्टव्यः ॥ २६ ॥

आह—कीदृशे महेश्वरे कालनादिशक्तिरुच्यते ? किं सकले निष्कले उत उभयोरपि ? उच्यते--उभयोरपि । यस्मादाह--

मनोऽमनाय नमः ।। २७ ।।

अत्र मनःशब्देनान्तःकरणं, तत्तन्त्रत्वादुदाहरणनुग्रहणार्थत्वाच्च मनो-ग्रहणस्य, उभयात्मकत्वाच्च मनसः सर्वकरणग्रहणानुग्रहणाच्च, कार्यग्रहण-

मित्यतः कार्यकरणाधिष्ठात्वातृत्वाच्च सकल इत्युपचर्यते। तथा चैतादृशा-मनसः प्रतिषेधादत्र कार्यकरणरहितो निष्कलो भगवान् अमन इत्युच्यते। तस्मात् सकलेतरानुग्राहकानादिशक्तिर्विद्यते। उक्तं हि—

"अपाणिपादोदरपार्श्वजिह्व

अतीन्द्रियो व्यापिस्वभावसिद्धः।

पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णो

न चास्त्यबुद्धं न च बुद्धिरस्ति॥

स वेत्ति सर्वं न च तस्यास्ति वेत्ता

तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥"

इत्येतद् भगवत्यभ्यधिकत्वं शेषेषु च न्यूनत्वं च ज्ञात्वा युक्तं वक्तुं मनोऽमनाय नमः। मनोऽमनाय इति चतुर्थी। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च सम्भावनान्यत्वाच्चापुनरूक्ताः सर्वे नमः शब्दा द्रष्टव्याः॥ २७॥

एवमत्र भगवत्कौण्डिन्यकृते पञ्चार्थभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः सह ब्रह्मणा ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिसमाप्त इति॥

अथ

तृतीयोऽध्यायः।

इदानीं तृतीयमध्यायमवसरप्राप्तं सम्बन्धं कृत्वा वक्ष्यामः।आह– यद्येवं तस्मादुच्यतां कतमस्य पदार्थस्य विचारणायां तृतीयोऽध्यायः सम्बध्यते? तदुच्यते--विधिशेषेण। कस्मात्? इह पुरस्तादुक्तम्—अकलुषमतेः, चरतः (अ० १, सू० १८-१९) चर्यायां चर्यायां (अ० २, सू० १३) तस्माद् भूयस्तपश्चरेद् (अ० २, सू० १८-१९) इति नियोगोऽभिहितः। तस्माद् लिङ्गधारि-त्रिषवण-आयतन-हसितादिषु (अ० १, सू० ६, २, ७. ८) सूत्रेषु पूर्वोक्तान्यवस्थानकालदेशक्रियाप्रयोगप्रयोजनान्तराणि तद्व्यतिरिक्तानि अन्यान्यपि अवस्थानकालदेशादीनि शुद्धिवृद्ध्यर्थं वक्ष्यामः। यस्मादाह—

अव्यक्तलिङ्गी ॥ १ ॥

इति अत्र ककारो लिङ्गव्यक्तत्वं प्रतिषेधति । अवसितप्रयोजनः पूर्वोक्तैर्लिङ्गोपकरणैरनुस्नाननिर्माल्यैकवासाद्यैः प्रयोजनैर्विनिवृत्तैर्लोकतस्त्रिषु स्नानं कुर्वन्नपि । षदाश्रमलिङ्गानूपलब्धावनवधृतोक्तलिङ्गवदव्यक्ताः क्रियाः कार्याः ॥ १ ॥

आह—कया वा मर्यादया कस्मिन् वा काले सा क्रिया कर्तव्या ? तदुच्यते—

व्यक्ताचारः ॥ २ ॥

अत्र व्यक्तशब्दो दिवसमधिकुरूते । व्यक्ताः स्फूटाः प्रकाशाः । अहनीत्यर्थः । आङ् इत्यवमानादिनिष्पत्तिमर्यादामाधिकुरूते । चार इति क्राथनादीनामुद्देशः । तान् क्राथनादीन् साधको नटवदस्थितो रङ्गवल्लौकिकानधिजन्य (?) नाटकवदाचारानाचरति करोति प्रयुङ्क्त इत्यतोऽयं व्यक्ताचारः ॥ २ ॥

आह – अव्यक्तलिङ्गिनो व्यक्ताचारस्य का कार्यनिष्पत्तिः ? नदुच्यते—अवमानः । यस्मादाह—

अवमतः ॥ ३ ॥

अत्र अव वर्जने । मानेन तेषां लिङ्गाचारज्ञानविधिविपरीतप्रवृत्तिं दृष्ट्वा सर्वदोषदुष्टोऽयमिति मानसाधेनावमाने यो जनः परिवर्जयतान्यतोऽयमबहुमतत्वं प्राप्नोति (?) उक्तं च—

"अमृतस्येव लिप्सेत नैवं मानं विचक्षणः ।
विषस्येव जुगुप्सेत सन्मानस्य सदा द्विजः ॥
सुखं ह्यवमतः शेते सर्वसङ्गविवर्जितः ।
दोषान् परस्य न ध्यायेत् तस्य पापं सदा मुनिः ॥"

इति ॥ ३ ॥

आह—केष्वव्यक्तलिङ्गिना व्यक्ताचारेणावमतेन भवितव्यमिति ? तदुच्यते—

सर्वभूतेषु ॥ ४ ॥

अत्र सर्वभूतशब्दो वर्णाश्रमिषु द्रष्टव्यः। कस्मादुच्यते वर्णाश्रमिस्विति ? भूतेषु इत्युक्तं, न तु देवतीर्यग्योनिम्लेच्छादिषु। कस्मात् ? व्यक्ताचाराव-मानदानादान विरोधात्। उक्तं हि--

"(धन्यो देशो) यत्र गावः प्रभूताः
मेध्यं चान्नं पार्थिवा धर्मशीलाः।
पुण्या नद्यः सर्वलोकोपभोग्याः
तांस्तान् देशान् सिद्धिकामो व्रजेत् ॥"

भूतेषु इति सामीपिकं सन्निधानम्। भूतसमीपे भूताभ्याशे भूता-नामध्यक्ष इत्यर्थः। सामीपिकव्याख्यानेनावमानदेशादिस्पष्टतरत्वादस्य विध्या-चरणम्। असुरेषु [अ० ४ सू० १०] इत्याचरणज्ञापकाच्च ॥ ४ ॥

आह--आह अवमतेन सर्वभूतेषु किं कर्तव्यम् ? तदुच्यते--चरितव्यम्। यस्मादाह—

परिभूयमानश्चरेत् ॥ ५ ॥

अत्र परि सर्वतोभावे। पगक्ष्याः परोक्ष्या इत्यर्थः(?)। भूय इति बहुधा। यष्टिमुष्ट्यादिभिः संयोजनं परिभवः। कायिक इत्यर्थः। मान इति साधककालकर्माभिधाने। परिभूयमानेनैव। स परिभवो दरिद्रपुरुषराजा-भिषेक इव द्रष्टव्यः। कनकपाषाणवद् इन्द्रकीलकवच्च भवितव्यम्। चरेद् इत्यर्जनमधिकुरुते। धर्मार्जने नियोगे च निन्दित इति गर्हिताभ्याख्याने चरितव्यमित्यर्थः ॥ ५

आह—अवमतस्य परिभूयमानस्याचरतः किं तापशान्तिरेव, उत शुद्धिरप्यस्ति ? उच्यते – अस्ति। यस्मादाह—

अपहतपाप्मा ॥ ६ ॥

भवतीति वाक्यशेषो वचनाधिकाराद् गम्यते। अत्र अप वर्जने आघाते नाशे च। अपहता अन्यतनष्टा इत्यर्थः(?) पाप्मानोऽत्र द्विविधाः सुखलक्षणाः

दुःखलक्षणाश्च। (तत्र सुखलक्षणाः)—उन्मादः मदः मोहः निद्रा आलस्यं कोणता अलिङ्गः नित्यमसद्वादित्वं बहुभोजनमित्येवमाद्याः। तथा दुःख-लक्षणाः--शिरोरोगदन्तरोगाक्षिरोगाद्याः। एवमेते पाप्मान आत्मगताः कार्यकरणेष्वादर्शप्रतिरूपकवदभिव्यक्ताः कृत्स्नाः अपहृताः (अन्यतमस्य?) पाप्मानः सोऽयमपहतपाप्मा भवतीत्यर्थः॥ ६॥

आह—किमवमानः परिभवश्च कायिकं मानसं साधनद्वयमेवास्य पापक्षयशुद्धिहेतुः, अहोस्विद् वाचिकमप्यस्ति नेति? उच्यते—यस्मादाह—

परेषां परिवादात्॥ ७॥

अत्र परा नाम स्वपरसमयाधिकृता ये अवमानादिभिः संयोजयन्ति, तेषाम्। परेषाम् इति षष्ठीबहुवचनम्। आह – (स्वप)रवाक्यावमानादिभिः शुद्धिरेवास्य, न तु वृद्धिः। सा च साधकस्य फलाभिधानाद् अतिदा-नादिष्वित्युच्यते, न पूर्वकृतसुकृतदानविवक्षया। परि इति च सर्वतोभावे। वद वादः। अव्यक्तोऽयं प्रेतोऽयम् उन्मत्तोऽयं मूढोऽयं मूर्खोऽयं निद्राविष्टो वायुरुद्धोऽयं दुष्कामी असम्यक्कारी असम्यग्वादी इत्येवमुग्रैर्वचोभिर-भिघ्नन्तीति वादाः। वादाद् इति निमित्तपञ्चमी द्रष्टव्या। तस्मादवमा-नादिभिः परान् संयोजयता स्वयमेवात्मा संयोक्तव्यः। अन्यथा पाशमात्रः स्यादिति (?)॥ ७॥

(आह)--पाप्मनां वा जानपदेशात् सन्देहः। कस्य कार्यं पाप्मनः(?) कथं वा तेषां कार्यकरणेष्वभिव्यक्तानां परसमुत्थैरवमानादिभिर्निर्घातनं? तदुच्यते। यस्मादाह--

पापं च तेभ्यो ददाति॥ ८॥

अत्र पापम् इत्यधर्मपर्यायः। तद्यथा--

"आगोऽपरागो मुसलं दुरितं दुष्कृतं तरून्।
पापं पाप्मानं वृजिनं स्तेयम्..........(?)॥"

इत्येकार्थवाचकाः शब्दाः। इह चोक्तं पापमिति। पापं च कस्मात्? पावक (पातक)पासकत्वात् पापम्। पावयति यस्मात् शिरोरोगदन्तरोगाक्षिरोगा-

दिभिः, पातयति नरकादिषु, पासयति वानिष्टाभिः कार्यकरणाख्याभिः, कलाभिरिति । अतः पावकपातकपासकत्वात् पापम् । एवंच बीजाङ्कुरवत् पापपाप्मनां हेतुहेतुमत्त्वोपनयो द्रष्टव्यः । बीजपापप्रसवाः पाप्मान इत्यर्थः । तेभ्य इति चतुर्थी सम्प्रदानार्था । अथ (ये) एवमवमानादिभिः संयोजयन्ति तेभ्यो ददाति प्रयच्छति, सङ्क्रामयतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

आह—किमवमानादिभिः शुद्धिरेवास्य, न तु वृद्धिरिति ? तदुच्यते — वृद्धिरप्यस्ति । यस्मादाह—

सुकृतं च तेषामादत्ते ॥ ९ ॥

अत्र सु प्रशंसायाम् । कृतम् इति धर्मपर्यायः । च शब्दः शुद्धिसमुच्चयार्थः पूर्वधर्मनियोगार्थश्च । तेषाम् इति । ये अवमानादिभिः संयोजयन्ति, तेषामित्यर्थः । तेषामिति षष्ठीग्रहणमनभिव्यक्तस्य कृत्स्नस्यादानज्ञापनार्थम् । आदत्ते । आ ग्रहणे । स्वात्मनि करोति विषमं वा इहातुरवदित्यर्थः ॥ ९ ॥

आह अतिदानाद्यतितपोवदमानादिसाधनं गुणवचनं किमस्ति नेति ? उच्यते —अस्ति । यस्मादाह—

तस्मात् ॥ १० ॥

इति । अत्र तस्माच्छब्दः अवमानादिसाधनगुणवचने । कथम् ? यस्मादवमानादिभिः पापपाप्मनां क्षये शुद्धिः सुकृतादाने च वृद्धिर्भवति । यस्माच्च तिन्निष्ठालौकिकशरीरेन्द्रियविषयादिप्रापकः (?) ऐकान्तिकात्यन्तिकरुद्र समीपप्राप्तिरेकान्तेनात्यन्तिकी भवति । अतो ब्रवीति तस्मादिति ॥ १० ॥

आह – अथैतदवमानादिसाधनमेव कर्तव्यम् ? किं वा अव्यक्तावस्था(नाये? ने)नैव चरितव्यम् ? तदुच्यते न । यस्मादाह —

प्रेतवच्चरेत् ॥ ११ ॥

अत्र पुरुषाख्यः प्रेतः, न मृताख्यः । कस्मात् ? आचरणोपदेशात् । वद् इति किञ्चिदुपमा । उन्मत्तसदृशदरिद्रपुरुषस्नातमलदिग्धाङ्गेन रूढश्मश्रुनखरोमधारिणा सर्वसंस्कारवर्जितेन भवितव्यम् । अतो वर्णाश्रमव्युच्छेदो-

वैराग्योत्साहश्च जायते। प्रयोजननिष्पत्तिश्च भवति अवमानादि। चरेद् इत्याज्ञामधिकुरुते। धर्मार्जने नियोगे च। संशयान्यत्वाच्चापुनरुक्तोऽयं चरशब्दो द्रष्टव्यः ॥ ११ ॥

आह—चरतोऽस्य के क्रियाविशेषाः? का वार्थनिष्पत्तिः? आचाराणां वा को विस्तारः? तदुच्यते--

क्राथेत वा ॥ १२ ॥

अत्र यदा प्राप्तज्ञानः क्षीणकलुषश्च कृताभ्यनुज्ञः, तदा आचार्यसकाशान्निष्क्रम्यागत्य प्रत्यगारं नगरं वा प्रविश्य यत्र लौकिकानां समूहस्तत्र तेषां नातिदूरे नातिसन्निकर्षे यत्र च तेषां नोपरोधो दृष्टिनिपातश्च भवति, तत्र हस्त्यश्वरथपदातीनां पन्थानं वर्जयित्वोपविश्य निद्रालिङ्गशिरश्चलितजृम्भिकादीनि प्रयोक्तव्यानि। तत्रैवानेनासुप्तेन सुप्त इव भवितव्यम्। ततः प्राणरेचनस्य वायोः कण्ठदेशे पुरुपुरुशब्दः कर्तव्यः। मततस्ते मनसा वा वाचा वा निद्राविष्टोऽयमिति लौकिकाः प्रपद्यन्ते परिभवन्ति च। अनेनानृताभियोगेनास्य यत् तेषां सुकृतं तदागच्छति। अस्यापि च यत् पाप तत् तान् प्रात। एवं क्राथनम् इति क्रिया। इत इत्यभियजने आज्ञायां नियोगे च। वाशब्दः क्राथनस्पन्दनादिविभागे द्रष्टव्यः ॥ १२ ॥

आह—अविभक्ताभिधानादेव क्राथनस्पन्दनादीनां विभागसिद्धिः, हसितादिवत् (अ॰ १, सू॰ ८)। कस्माद् भाविवचनं भवति? उच्यते—पृथगभिधाने सत्यपि हसितगीतनृत्यवत् सन्देहः। पृथगभिधाने सत्यपि हसितगीतयोः पृथक् पृथक् प्रयोगः। अत्र विभक्तयोस्तु गीतनृत्ययोः। अध्ययनयन्त्रणयोश्च। तस्मात् पृथगभिधानमनुरतो वा विभागे भवतान्यदोषः(?) ततः क्राथनक्रिययावमानादिषु निष्पन्नेषु क्राथनादि संसृष्टं समुत्सृज्य शीघ्रमुत्थातव्यम्। यथा लौकिकानां सम्प्रत्ययो भवति,किमप्यनेन स्वप्नान्तरे भयं दृष्टमिति। उत उत्थाय शिरःपाण्यादीनामन्यतमं स्पन्दितव्यम्। यस्मादाह—

स्पन्देत वा ॥ १३ ॥

अत्र स्पन्दनमिति ज्ञानेच्छामधिकुरुते। कस्मात्। ज्ञानेच्छाप्रयत्नपूर्वकं शरीरावयवाः स्पन्दयितव्याः। द्रष्टारो हि वायुसंसृष्टोऽयमिति लौकिकाः प्रतिपद्यन्ते (परिभवन्ति) च। अनेनानृताभियोगेनास्य तत्पुण्यमागच्छति, अस्यापि च यत् पापं तान् गच्छति। एवं स्पन्दनम् इति क्रिया। इत इत्यभियजने आज्ञायां नियोगे च। एवमादिसाधने सति, वा विकल्पे, रौद्री बहुरूपीवत्। अवस्थानक्राथनोत्थानस्पन्दनादौ वाशब्दो द्रष्टव्यः ॥ १३ ॥

आह—अभिप्रस्थितस्य धर्मसाधनं किमस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

मण्टेत वा ॥ १४ ॥

वेति पादवैकल्यमधिकुरुते। मण्टने च प्रयुक्ते वक्तारो वदन्त्युपहतम् अस्य पादेन्द्रियम्। कृत्स्नस्याशुभस्य च वृत्तिरस्मिञ्छरीरे उपलभ्यते उक्तं हि—

"दारिद्र्यं (च) व्याधिभूयिष्ठता (च)
मर्खत्वं चारूपता भ्रंशतापि।
देहोत्पत्तिर्वर्णहीने कुले वा
प्रत्यादेशः कर्मणां दुष्कृतानाम् ॥"

(द्रष्टारो हि उपहतपाद इति) प्रपद्यन्ते परिभवन्ति च। अनेनानृताभियोगेन यत् तेषां सुकृतं तदस्यागच्छति, अस्यापि च यत् पापं तान् गच्छति। एवं मण्टनम् इति क्रिया। इत इत्यभियजने आज्ञायां नियोगे च। वाशब्दः क्राथनस्पन्दनमण्टनादिविभागे द्रष्टव्यः ॥ १४ ॥

आह—स्त्रीष्वधिकारिकर्मसाधनं किमस्ति नेति? उच्यते—अस्ति। यस्मादाह—

शृङ्गारेत वा ॥ १५ ॥

अत्र शृङ्गारणमिति भावप्रसादमधिकुरुते। कथम्? स्त्रीजनसमूहस्यानुपरोधे(न) नातिदूरे नातिसन्निकर्षे अधिदृष्टिनिपाते स्थित्वैकां रूपयौवन-

सम्पन्नां स्त्रियमधिकृत्यालोचनसङ्कल्पाध्यवसायाभिमानादयः प्रयोक्तव्याः। अयुक्ता(?) चेच्छावलोके हि सति केशसंयमनादीनि कामलिङ्गानि प्रयोक्तव्यानि। ततः स्त्रीपुन्नपुंसकादयो वक्तारो वदन्त्यब्रह्मचारी काम्यमिति। अनेनानृताभियोगेनास्य यत् तेषां सुकृतं तदागच्छति, अस्यापि यत् पापं तत् तेषां गच्छत्येव। शृङ्गारणम् इति क्रिया। इत इत्यभियजने आज्ञायां नियोगे च। वाशब्दः क्राथनस्पन्दनमण्टनशृङ्गारणादिक्रियान्तराणां विकल्पे। क्रियान्यत्वाच्चापुनरुक्तोऽयं वाशब्दो द्रष्टव्यः॥ १५॥

आह—क्राथनादिक्रियाचतुष्कं यस्य नास्ति तस्य सामान्यत्वात्। उक्तं हि—

"ये हि वै दीक्षितं यजमानं पृष्ठतोऽपवदन्ति, ते तस्य पाप्मानमभिव्रजन्ति॥

पृष्ठतः पदमग्रतः पार्श्वतश्च योज्यम्। तस्मात् क्राथेत वा स्पन्देत वा मण्टेत वा शृङ्गारेत वा। कस्मात्? अतियजनादिविशेषितत्वात्। कस्मात्? सर्वज्ञवचनाद् अर्थाविसंवादित्वाच्च लोकापरिग्रहाभावः॥ १॥

आह-(किं) क्रियाचतुष्कमेवात्र कर्तव्यमिति? उच्यते—न। यस्मादाह-

अपि तत्कुर्यात् ॥ १६ ॥

अत्र अपिशब्दः क्राथनादिसर्वक्रियासमुच्चयवचने। तद् इति अनैकान्ते। कुर्याद् इति कुशलां हासवृत्तिमधिकुरुते। यमानामविरोधिनां शुविरूपकाणां (?) द्रव्याणां काष्ठलोष्टादीनां ग्रहणधारणसंस्पर्शनादीनि कर्तव्यानि। ततस्ते वक्तारो वदन्ति असम्यक्कारी शुच्यशुच्योः कार्याकार्ययोरविभाज्ञ इति। अनेनानृताभियोगेनास्य धर्माधर्मयोश्च हानादानशुद्धिर्भवति॥ १६॥

आह—किं क्रियापञ्चकमेवात्र कर्तव्यम्? तदुच्यते—न। यस्मादाह—

अपि तद्भाषेत् ॥ १७ ॥

अत्र अपिशब्दः सर्वेन्द्रियवृत्त्युपादानसम्भावने। तद् इति अनैकान्ते।

भाषेद् इति वाक्यवृत्तिमधिकुरुते। इत्यदम् अपार्थकं पुनरुक्तं व्याहतं भाषितव्यमिति। ततस्ते वक्तारो वदन्ति असम्यग्वादो वाच्यावाच्ययोर-विभागज्ञ इति। अनेनानृताभियोगेनास्य धर्माधर्मयोस्त्यागादानशुद्धि-र्भवति ॥ १७ ॥

आह--किं हसितादिवद् यथापाठक्रमेणैव क्राथनादयः प्रयोक्तव्याः? किं वा प्रयोजनं कर्तव्यम्? तदुच्यते--परिभवादिनिष्पत्त्यर्थम्। यस्मादाह—

येन परिभवं गच्छेत् ॥ १८ ॥

अत्र यच्छब्दः अतिक्रान्तापेक्षणे वीप्सायां च। परिभवः पूर्वोक्तः। गच्छेद् इत्यवमानपरिभवपरिवादाः प्राप्तव्या इत्यर्थः। एवमत्र व्यक्ताचार (अ० ३, सू० २)समासोक्तानां क्राथनादीनामाचाराणां विस्तरविभाग-विशेषोपसंहारादयश्च व्याख्याता इत्यर्थः ॥ १८ ॥

आह—कियन्तं कालं परिभवादयः प्राप्तव्याः? कीदृशेन वा? तदुच्यते--

परिभूयमानो हि विद्वान् कृत्स्नतपा भवति ॥ १९ ॥

अत्र परि सर्वतोभावे। भूय इत्यनेकशोऽवमानादयः प्राप्तव्याः। मान इत्यस्य पूर्वोक्तोऽर्थः। हिशब्दः कृत्स्नतप उत्कर्षे। उत्कर्षापेक्षो द्रष्टव्यः। विद्या नाम (सा), या ग्रन्थार्थवर्तिपदार्थानामभिव्यञ्जिका विप्रत्वलक्षणा। न्यायात् पदार्थानामधिगतप्रत्ययो लाभमलोपायाभिज्ञः (अधिगतप्रत्ययस्य?) विद्वानित्युच्यते। कृत्स्नमिति प्रयोगप्राप्तौ पर्याप्तिमधिकुरुते, न तु हर्षादि-प्राप्तावित्यर्थः। कृत्स्नतपाः पर्याप्ततपाः साधक इत्यर्थः। भवति इति भूतार्थ-वादो निस्संशयम्। यदा यमनियमेषु दृढो भूत्वा क्राथनादीन् प्रयुङ्क्ते तदा कृत्स्नतपा भवति। कृत्स्नस्य तपसो लक्षणमात्मप्रत्यक्षं वेदि-तव्यम् ॥ १९ ॥

एवमध्यायपरिसमाप्तिं कृत्वा युक्तं वक्तुम्—

अत्रदं ब्रह्म जपेत् ॥ २० ॥

इति । अस्य पूर्वोक्तोऽर्थः ॥ २० ॥

किं पुनस्तद् ब्रह्मेति ? तदुच्यते

अथवा ब्रह्मणा सह ब्रह्मसम्बन्धो भवति । कथम् ? मनोग्रहणाद् रूपादिविहीना अर्थाः । किं तानि सुरूपाणि सलक्षणानि, विलक्षणानि, उत सलक्षणविलक्षणानीति ? किं परिमितानि, उत अपरिमितानि, उत परिमितापरिमितानि ? उच्यते—कारणत्वबहुत्वेनोक्तस्य भगवतो रूपनानात्वं वैलक्षण्यावैलक्षण्यं परिमितापरिमितत्वं चोच्यते अघोरेभ्यः । अकारो रूपाणां घोरत्वं प्रतिषेधति । अघोराण्यतिशान्तानि अनुग्रहकराणीत्यर्थः । एभ्य इत्यपरिमितापरिसंख्यातेभ्य इत्यर्थः ॥ २१ ॥

अघोरेभ्यः ॥ २१ ॥

आह – किमेतान्येव, एभ्य एव वा ? तदुच्यते न । यस्मादाह—

अथ घोरेभ्यः ॥ २२ ॥

अत्र अथशब्दो घोररूपोपाधिको द्रष्टव्यः । घोराणि अशिवानि अशान्तानि अनुग्रहकारीणीत्यर्थः । एभ्य इत्यपरिमितापरिसंख्यातेभ्यः इत्यर्थः ॥ २२ ॥

आह—किमेतान्येव, द्विसंस्थानसंस्थेभ्य(?) एव वा ? उच्यते—यस्मादाह—

घोरघोरतरेभ्यश्च ॥ २३ ॥

अत्र घोर इत्येतद् भगवतो नामधेयम् । द्वितीयो घोरशब्दो रूपेषु द्रष्टव्यः । तर विशेषणे । शानतरादिवत् (?) तेभ्यो घोरेभ्योऽघोरेभ्यश्च यान्यन्यानि पशूनां सम्मोहकराणि तानि घोरतराणीत्यर्थः । एभ्य इत्यपरिमितासंख्यातेभ्य इत्यर्थः । चशब्दो घोराघोररूपोपसंहारे द्रष्टव्यः । एतान्येव त्रिसंख्यानि रूपाणि नान्यानीत्यर्थः ॥ २३ ॥

आह—कुतस्तानि रूपाणि करोति ? कुत्र स्थानि वा ? तदुच्यते—

सर्वेभ्यः ॥ २४ ॥

अत्र यानि रूप(?रूपाणि) कारणे। सर्वत्वं कस्मात्? सर्वत्रानवकाशदोषात् सूच्यग्रे द्विनाभीयबदरवत्। किन्तु कारणशक्तेरव्याहतत्वाच्च। सर्वत्र तानीत्यर्थः(?) ॥ २४ ॥

आह– रूपकरणे करणेष्वस्याप्रतिघात इति क्व सिद्धम्? तदुच्यते—इह। यस्मादाह—

शर्वसर्वेभ्यः ॥ २५ ॥

अत्र शर्व इत्येतद् भगवतो नामधेयम्। शर्वः कस्मात्? विद्यादिकार्यस्य शरणाच्छर्व इत्युच्यते। सर्वं विद्यादिकार्यं रुद्रस्थम्। सर्वस्मिंश्च भगवांश्चोदकः कारणत्वेन सर्वत्र। सर्वशब्दः त्रिसंख्येष्वपि रूपेषु निरवशेषवाची द्रष्टव्यः। एभ्य इत्यपरिमितासंख्येभ्य इत्यर्थः ॥ २५ ॥

आह – अथैतां रूपविभूतिं ज्ञात्वा साधकेन किं कर्तव्यम्? तदुच्यते—

नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥ २६ ॥

अत्र नम इत्यात्मप्रयुक्त इत्यर्थः। ते इति करणापदेशे। नमस्तुभ्यं नमस्ते। अथवा नमस्कारेणात्मानं प्रदाय धर्मप्रचयपरिग्रहमिच्छन्ति। अथ कतमोऽयं परिग्रहः? तदुच्यते—विशिष्टे परिग्रहात्। तदुच्यते—अत्र रुद्र इति कारणापदेशे। रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। रूपाणि यानि शरीराण्युत्पादयति तेभ्यो रूपेभ्य इत्यर्थः। अत्र रूपव्यपदेशेन रूपिणी नमस्कारो द्रष्टव्यः। कस्मात्? तदभिसन्धिप्रयोगात्। शिवपुरि उपस्थानवत्। एभ्य इति। अपरिमितासंख्यातेभ्य इत्यर्थः। रूपनिर्देशार्थान्यत्वाच्च पुनरुक्तापुनरुक्ताभ्यां शब्दाः द्रष्टव्याः (?) ॥ २६ ॥

एवमत्र भगवत्कौण्डिल्यकृते पञ्चमार्थभाष्ये तृतीयोऽध्यायः सह ब्राह्मणा ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिसमाप्तः ॥

अथ
चतुर्थो ऽध्यायः ।

अतः परं चतुर्थमध्यायमवसरप्राप्तं सम्बन्धे कृत्वा वक्ष्यामः । आह—यद्येवं तदुच्यतां कतमस्य पदार्थस्य शेषेणायं चतुर्थोऽध्यायः सम्बध्यते ? तदुच्यते—विधिशेषेण । कस्मात् ? इह पुरस्तादुक्तं—विद्वान् कृत्स्नतपा भवति (अ ३, सू० १९) इति । विद्या तपश्चोक्तप्रयोजने । तपोगोपनं नोक्तम् । तद् वक्ष्यामः । तथा कृत्स्नस्य तपसोऽर्जनम्, अर्जितस्य च तपसो रक्षणं नोक्तम् । तद् वक्ष्यामः । तथा वसत्यर्थो विदुषः सम्यक्साधनप्रयोगानुग्रहोऽवस्थानान्तरं, तथा अनुस्नानयन्त्रस्य च वृत्तिपरिभवसाधनानि च तत्परिभवसमयानुगुणवचनविधिः प्रत्यवलोकनविधिः प्रशंसा च । तद् वक्ष्यामः । तदुच्यते—

गूढविद्या तप आनन्त्याय प्रकाशते ।। १ ।।

गुहू रक्षणे । रक्षितव्या न प्रकाशयितव्येत्यर्थः । गोपनं नामाप्रकाशनम् । विद्या पूर्वोक्ता स्वपरान्यप्रकाशिका प्रदीपवत् । लिङ्गैर्गोप्या गूढविद्या, साधके इत्यर्थः । आह—गूढविद्ये साधके का कार्यनिष्पत्तिः ? तदुच्यते—तप आनन्त्याय प्रकाशते इत्येष पाठः । अथवा कुरवोन्महितवत् तपोऽनन्त्याय प्रकाशत इत्येष वा पाठः । तस्मादत्र तपस्तदेव । निरुक्तमस्य पूर्वोक्तम् । अन् (?आनन्त्यम्) इत्यपि नि(ष्ठा)योगपर्यायः (स?)गम्यते । तपःकार्यत्वाद् अतिगतिसायुज्यवत् । आह—किं परिमितेष्वर्थेष्वानन्त्यशब्दः, उतापरिमितेषु, किं वा परिमितापरिमितेष्विति ? उच्यते—परिमितापरिमितेष्वर्थेषु आनन्त्यशब्दः । तत्र तावदीश्वरस्यैकैकशः परिमितेषु तेष्वेव विभुत्वादपरिमितेषु तथा परिमितापरिमितेष्वर्थेषु अभिव्यक्तास्य शक्तिः । तस्य कुशलाकुशलेषु भावेष्वानन्त्यशब्दः । यस्मादुक्तं—'न चैतास्तनवः केवलं मम इति' ।

"तथा रुद्रः समुद्रो हि अनन्तो भास्करो नभः ।
आत्मा ब्रह्म च वाक् चैव न शक्यं भेददर्शनम् ॥
अनात्मविद्भिरध्यस्तां पङ्क्ति योजनमायताम् ।

वेदवित् पुनते पार्थ ! नियुक्तः पङ्क्तिमूर्धनि ॥
तथा च वेदवित्पङ्क्तिमात्मवित् पुनते द्विजः ।
आनन्त्यं पुनते विद्वान् नाभा(?ना)त्वं यो न पश्यति ॥"

आनन्त्याय इति चतुर्थी । तस्मात् तप एतत् न तु विद्या कार्या । प्रकाशो नाभ भावप्रकास्यम् । न तु प्रदीपवत् । कथम् ? योगाधिकृतस्य प्रदीपस्थानीतयमानैजस्थानीयमावारकमभिभूय प्रकाशते [?] चक्षुः-स्थानीयया विद्यया कुशलविवेकादिकार्यं माहात्म्यातिगतिप्रकाशप्रवृत्ति-स्मृतिसायुज्यस्थित्यादिप्रकाशनं तपः कार्यमित्यर्थः । एवं च गुप्ते ब्राह्मणे तप आनन्त्याय प्रकाशत इत्यर्थः । आह--स्वभावगुप्तत्वाद् अतीन्द्रियात्मगती विद्या गोप्येति ? तदुच्यते--अव्यक्तप्रेताद्यवस्थानैर्लिङ्गैर्गोप्या इत्यर्थः ॥ १ ॥

आह - कानि पुनस्तानि विद्यालिङ्गानि, यैर्गुप्तै विद्या गुप्ता भवति ? तदुच्यते--व्रतादीनि । यस्मादाह--

गूढव्रतः ॥ २ ॥

अत्र गूढं प्रच्छन्नमप्रकाशमित्यर्थं व्रतं नाम—यदायतने स्नानहसिताद्यः साधनवर्गस्तद् व्रतम् । कस्मात् ? साकृतत्वाद् [?] यस्मादयं ब्राह्मणस्तथा प्रयुङ्क्ते, यथा लौकिकानां धर्मसाधनभावो न विद्यत इति, अतो गूढव्रत इति । आह—अव्यक्तप्रेतत्वादेव गूढत्वप्राप्तेः पुनरुक्तमिति । उच्यते—अर्थान्यत्वादपुनरुक्तम् । तत्रावस्थानमात्रमेवाव्यक्तम् । इह तु स्नानहसितादिगोपनम् । अपि च तत्र निष्पन्नं लिङ्ग[म]व्यक्तम् । इह तु निष्पत्तिकाले च गोपनोपदेशः । न यक्तप्रेतत्वं वा विद्यालिङ्गम् । अतश्चापुनरुक्तम् । तस्माद् गूढव्रतोपदेशाय स्थानापदेशापवादाय स्थाने वस्तव्यम् । स्नानहि-सितादयश्च गूढाः कर्तव्याः । एवं विद्या गुप्ता भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

आह—किं व्रतमेवैकं विद्यालिङ्गं गोप्यम् ?, आहोस्विद् अन्यदप्यस्ति नेति उच्यते—अस्ति अस्मादाह--

गूढपवित्रवाणिः ॥ ३ ॥

अत्र गूढा गुप्ता प्रच्छन्ना अप्रकाशेत्यर्थः पवित्रा नाम सत्य संस्कृता, अर्घ्यहेतुः सम्पन्ना न तु विपरीतेत्यर्थः । सा [वाणी] गोप्या । किमर्थमिति चेत् ?। तदुच्यते--जातिज्ञानतपःस्ववसूचनार्थम् । यथा शरदं कुररः सूचयति । उक्तं हि—

"शरदं कुररः प्राह वसन्तं प्राह कोकिलः ।
प्राह वर्षा मयूरश्च वाक् पवित्राह ब्राह्मणम् ॥"

तथा--

"वागेव हि मनुष्यस्य श्रुतमाख्याति भाषिता ।
दीपयन्ती यथा सर्वं प्रभा भानुमिवामला ॥"

अतो जातिज्ञापनतपःस्तवा भवन्ति । स्तविते चावसानादिमत्त्वयोः पुण्यपापक्षयवृद्धयोरभावः । अत एतदुक्तं--गूढपवित्रवाणिरिति ॥ ३ ॥

आह - किं व्रतं वाणी च द्वयमेवात्र (व्रत ?) गोप्यम् ?, आहोस्विद् अन्यदप्यस्ति नेति ? उच्यते-अस्ति । यस्मादाह—

सर्वाणि द्वाराणि पिधाय ॥ ४ ॥

इति । अत्र सर्वशब्दो द्वारप्रेक्तेर्निरवशेषवाचो द्रष्टव्यः । द्वाराणि क्राथनादीनि । द्वाराणि च कस्मात् ? धर्माधर्मयोरायव्ययहेतुत्वाद् द्वाराणि । द्वाराणीति बहुवचनं विज्ञानयन्त्रेन्द्रियवत् । पिधाय इति प्राक्साधनप्रयोगमधिकुरुते । कथम् ? अ (व) स्थानकालदेशक्रियाप्रयोगप्रयोजनान्तराणि विधिवद् विवेच्य यदा सम्यङ् मायमा (अ० ४, सू० १२) सान्नाय्यभेदक्रमणे (?) प्रयुक्तानि तदा पिहितानि भवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

आह केन तानि पिधेयानि ? तदुच्यते—

बुद्धया ॥ ५ ॥

यस्मादस्य श्रोत्रेन्द्रियवत् पिधायेति सम्यग् ज्ञानप्रयोगे सर्वज्ञेन भगवता विद्यानुगृहीतया बुद्धया पिधानमुक्तं, तस्मादत्र करणाख्या बुद्धयेति, न

ज्ञानाख्या । कथं गम्यते ? बुद्ध्येति तृतीयाप्रयोगात् । भस्मना स्नानवत् । न ज्ञानाख्या । यस्य विज्ञानाख्या बुद्धिर्न ज्ञानाख्या । कथं गम्यते ? तस्य प्राग् ज्ञानोत्पत्तेरचेतनपुरुषस्तस्य ह्यज्ञानाद् असंबोध्यः स्यात् (?) तस्मादत्र त्रिकं चिन्त्यते--पिधाता पिधायं पिधेयमिति । अत्र पिधाता साधकः । पिधानमस्य विद्यानुगृहीता बुद्धिः । पिधेयं व्रतं वाणी द्वाराणि चेति । क्रम-वृत्तित्वाच्च बुद्धेरेव प्रयुङ्क्ते । शेषाण्यकर्तृत्वेनैवाप्रयुक्तानि । तदा पिहितानि भवन्तीत्यर्थः (?) ॥ ५ ॥

अत्रेदं विद्याज्ञानप्रकरणं परिसमाप्तमिति ॥

आह—किमव्यक्तप्रेत इत्यवस्थानद्वयमेवात्र कर्तव्यम् ? वागादीनि वा गोपायित्वा साधकेन किं कर्तव्यम् । उच्यते—

उन्मत्तवदेको विचरेत लोके ॥ ६ ॥

अत्र बुद्ध्या अन्तःकरणानां श्रोत्रादीनां च बाह्यानां वृत्तिविभ्रमः कर्तव्योऽसति विषये विषयग्रहणम् ।

अत्र—

> **"पञ्चोन्मादाः समाख्याता वातपित्तकफात्मकाः ।**
> **चतुर्थः सन्निपातस्तु अभिघातस्तु पञ्चमः ॥"**

एवं ग्रहबहुत्वे सति योऽयं वातपित्तश्लेष्मणां समूहः सान्निपातिकोऽयं महा-ग्रहः । एवं साधनप्रयोगः कर्तव्यः । तत्र यदि कश्चिद् ज्ञानजिज्ञासनार्थं दया-र्थमनुग्रहार्थं वा पृच्छति, तं निवर्तयित्वा ब्रूयात् समयतः प्रविशस्वेति । ततो द्वारेण प्रविश्य विपरीतमविपरीतं वा यदि कश्चिद् ब्रूयात् को भवानिति ?, ततो वक्तव्यं माहेश्वरोऽहं कौमारोऽहमिति दुरत्ययं कृतं च ममानेनेति । ततो जिघांसनार्थं मया स्पृष्टो न तु विषयक्रीडार्थं वा । ततः परिवर्जयति इत्येवं लौकिकपरीक्षकाणां सम्मोहनार्थमुक्तम् उन्मत्तद् इति । किञ्चिदुन्मत्तप्रेतवत् तस्यान्तःकरणादिवृत्तिविभ्रकमात्रं परिगृह्यते । एक इत्यसंवहता चिन्त्यते । एकेनेतरेभ्यो विच्छिन्नेनासहायेनेत्यर्थः । आह—एकेन किं कर्तव्यमिति ? उच्यते—विहर्तव्यम् । यस्मादाह - विचरेत । अत्र विर्विस्तरे । चरेत्यार्जन

मधिकुरुते धर्मार्जने। ईत इत्याज्ञायां नियोगे च। विस्तरनियोगविशेषतश्च विहर्तव्यमित्यर्थः। आह—क्व विहर्तव्यमिति ? उच्यये—लोके। त्रिवर्णाश्रमिषु लोकसंज्ञा,न तु ब्रह्मलोकादिषु। कस्मात् ? उत्कृष्टेष्वसम्भवात्। लोके इति सामीपिकं सन्निधानम्। परवर्णा लोकास्तेषु तदध्यक्षेषु विहर्तव्यमित्यर्थः॥ ६॥

आह—कां वृत्तिमास्थाय लोके विहर्तव्यम् ?, सर्वभक्षमेव ? उच्यते—न। यस्मादाह—

कृतान्नमुत्सृष्टमुपाददीत ॥ ७ ॥

अत्र कृतग्रहणादकृतानां बीजकाण्डफलादीनां प्रतिषेधः। कृतं भिन्नोद्भिन्नाद्यं तद् भैक्षम् उत्सृष्टं यथालब्धं विधिना प्राप्तमुपयोज्यम्। अत्र कृतग्रहणादकृतप्रतिषेधः,अकृतप्रतिषेधाच्च कृत्स्ना हिंसा तन्त्रे प्रतिषिद्धा द्रष्टव्या। आह—किं तत् कृतं नाम बुद्धिघटाद्यम् ? तदुच्यते—न। यस्मादाह—अन्नम्। तत्रान्नवचनादनन्नप्रतिषेधः। तच्च द्वियोनि—इन्द्राभिषिक्तम् इन्द्रियाभिषिक्तं च। तत्रेन्द्राभिषिक्तं व्रीहियवाद्यम्। इन्द्रियाभिषिक्तं तु मांसम्। तत् पञ्चविधम्—भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं पेयं चोष्यमिति। तथा षड्रसं—मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायमिति। आह—तस्य कृतान्नस्यार्जनं कुतः कर्तव्यम् ? तदुच्यते—उत्सृष्टम्। अत्रोत्सृष्टग्रहणाद् भैक्ष्ययथालब्धप्रतिषेधः। किंकारणम् सूनादिदोषपरिहारार्थत्वान्नस्तेयप्रतिग्रहादिदोषात् (?) तच्च त्रिविधमुत्सृष्टम्। तद्यथा—निसृष्टं विसृष्टमतिसृष्टमिति। तत्र सनिमित्तं परित्यक्तमन्नं पानं वा तन्निसृष्टम्। गोब्राह्मणादिनिमित्तं त्यक्तं विसृष्टम्। अतिसृष्टमन्यतः परित्यक्तम्। दयार्थमानृशंसार्थं वा यदि कश्चिद् दद्यात् तदपि ग्राह्यमेव। आह—अनेन साधकेन किं कर्तव्यमिति ? उच्यते—उपयोक्तव्यम्। यस्मादाह—उपाददीत। अत्रोपेत्यभ्युपगमे। अत्यन्तासन्मानसतन्त्रस्थेनेत्यर्थः। आददीत इत्यपयोगे ग्रहणे च। विवक्षितसूत्रग्रहणे तावद् (?) भवति। तदुक्तं—

संचित्वा नरमेवैनं (?) कामानामवितृप्तिकम्।
व्याघ्रः पशुमिवादाय मृत्युरादाय गच्छति॥"

इति । उपयोगेऽपि नाथकणादवत्सं (?) । तस्मादुपयोक्तव्यमिति । ईत इत्याज्ञायां नियोगे च । तदुत्सृष्टं विधिप्राप्तमुपयोक्तव्यम् । अन्यथा हि विधिव्ययेतेन क्रमेण वृत्त्यर्जनं न कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥

आह—व्रतादीनि गोपयित्वा सम्यक्साधनप्रयोगे उत्सृष्टोपयोगे च वर्ततः के वार्था निष्पद्यन्ते ? असन्मानप्रकरणस्य वा परिसमाप्तिः किमस्ति नेति ? उच्यते––अस्ति । यस्मादाह––

उन्मत्तो मूढ इत्येवं मन्यन्ते इतरे जनाः ॥ ८ ॥

अत्र उन्मत्तः स एव । निरुक्तमस्य पूर्वोक्तम् । मूढ इति । मुहु अपरिज्ञाने । अव्यक्तोऽयं प्रेतोऽयम् उन्मत्तोऽयं, मूढोऽयं मूर्खोऽयमिति वक्तारो वन्दन्तीत्यर्थः । इतिशब्दोऽर्थानां निर्वचनत्वात् प्रकरणपरिसमाप्त्यर्थः । एवं यस्मादवस्थानकालदेशक्रियाप्रयोगप्रयोजनगोपनवसत्यर्थकृत्स्नतपांसि च व्याख्यातानि । एवम् इत्यतिक्रान्तापेक्षणे । मन्यन्ते इत्यवधारणे । इतरे इति ये ?) गृहस्थब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुपाषण्डिनां ब्रह्मचर्याधिकृतानां ग्रहणम् । जना इति । जनी प्रादुर्भावे । जना इति वर्णाश्रमिणां जनानामधिकृतानां ग्रहणम् । उक्तं हि—

"जनेन हि जनो जान जनं जनयसे जनः ।
जनं शोचसि नात्मानमात्मान शोच मा जनम् ॥"

इत्येवं वक्तारो वदन्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अत्रेदमाधिकारिकमसन्मानचरिप्रकरणं समाप्तम् ॥

आह—व्रतादीनि गोपयित्वा सम्यक्साधनप्रयोगे उत्सृष्टोपयोगे च ततः को गुणः ? यं गुणं ज्ञात्वा अव्यक्तप्रेतोन्मत्ताद्या वादा निष्पाद्या इति ? तदुच्यते—तं गुणं ज्ञात्वा वक्ष्यामः । अपि च अव्यक्तप्रेतोन्मत्ताद्यं ब्राह्मणकर्मविरुद्धं क्रमं दृष्ट्वा यावदयं शिष्यः एनमर्थं न ब्रवीति हृदिस्थम् अशङ्कितमुपलभ्योत्तरं ब्रूम इति कृत्वा भगवानिदं सूत्रमुवाच—

असन्मानो हि यन्त्राणां सर्वेषामुत्तमः स्मृतः ॥ ९ ॥

अत्र अकारो मानप्रतिषेधे । मानोऽत्र द्विविधः । जात्यभिमानो नाम

गृहस्थाभिमानश्च । तत्र जात्यभिमानो नाम ब्राह्मणोऽहमिति । पूज्यत्वादूर्ध्वगमनादिनां कार्याणामुच्छ्रितत्वात् त्रयाणामपि वर्णानामुपदेशेन गुरुत्वाद् यज्ञकर्तृत्वात् त्रैलोक्यस्थितिहेतोः ब्राह्मणोऽहमिति प्रथमो मानो जात्युत्कर्षात् तथा ब्राह्मणानामपि गृहस्थादीनां पूज्यत्वात् तत्कृतमानश्च । एतच्च मानद्वयमव्यक्तलिङ्ग (अ० ३, सू० १) वचनात् प्रतिषिद्धम् । तथा —

"वित्तं बन्धुर्यशः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥"

एतानि चैकवासःप्रेताचरणगूढव्रतोपदेशिना (अ० १, सू० १०; ३, ११; ४,२) सूत्रतः प्रतिषिद्धानीत्यतो मानो न कर्तव्यः । सन् इति प्रशंसायामस्तित्वे च अग्रे तदसन्मानचरित्रकरणविशिष्टं च (?) हिशब्दोऽयमुत्तमोत्कर्षापेक्षो द्रष्टव्यः । यन्त्राणि अग्निष्टोमादीनि मासोपवासादीनि च गृहस्थादीनां शुद्धिवृद्धिकराणि । यन्त्राणि च कस्मात् ? यन्त्रं कर्मादयः । यस्मादयन्त्रा लौकिका अमर्यादावस्था भवन्तीत्यतो यन्त्राणि । यन्त्राणाम् इति षष्ठीबहुवचनम् । आह—

(मूढप्रभृति ?) बहुवचनप्रयोगात् सन्देहः । अथ कियतां यन्त्राणाम् ? तदुच्यते सर्वेषाम् । अत्र सर्वेषामित्यशेषाणामित्यर्थः । सर्वेषामिति षष्ठीबहुवचनम् । आह—षष्ठ्याः साकाङ्क्षत्वात् सन्देहः । तेषां कारणात्मानो वर्तन्ते (?) तदुच्यते – उत्तमः । अत्रोत्तम इति श्रेष्ठत्वे परमविशुद्धित्यागादानभावादिषु । उक्तं हि—

"वरेण्यः सप्तमो मुख्यो वरिष्ठः शोभनोऽथवा ।
उत्तमश्चावरार्धश्च स्वर्थः श्रेष्ठार्थवाचकाः ॥"

श्रेष्ठः । इह चोक्तम् उत्तम इति । आह – असन्मानः सर्वयन्त्राणामुत्तम श्रेष्ठः क्व सिद्धम् ? उच्यते—इह । यस्मादाह—स्मृतिः । अत्र स्मृत इत्युक्तपर्यायः महेश्वरेणोक्तं प्रोक्तं कथितं वर्णितमित्यर्थः । विशिष्टः कस्मात् ? सर्वज्ञवचनादविसंवादित्वाच्च । नहि प्रत्यक्षदर्शिनां वचनानि विसंवदन्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥

आह—अस्मिन् क्रमे उत्तमत्वेन व्याख्यायमाने क आद्यः शोधकः ?

केन वा इदं विधानं चीर्णम् ? आचरता वा किं फलं प्राप्तम् ? सोऽस्मत्प्रत्ययार्थं वाच्यः। तदुच्यते—

इन्द्रो वा अग्रे असुरेषु पाशुपतमचरत् ॥ १० ॥

अत्र देवतानां राजा इन्द्रः। कार्यं गम्यते ? असुरेष्वाचरणवचनात्। ब्राह्मणाश्चायमिन्द्रः श्रेष्ठः। सूत्रे ब्राह्मण (अ० ४, सू० २०) ग्रहणात् शूद्रप्रतिषेधा (अ० १, सू० १३) च्च। इदि परमैश्वर्येधातुः। तस्येन्द्रः। इन्द्र उत्कृष्टः श्रेष्ठः। देवगन्धर्वयक्षराक्षसपितृपिशाचादीनां श्रेष्ठो न तु ब्रह्मादीनाम्। किन्तु स्वर्गिणां मध्ये ऐश्वर्येण विद्यया आज्ञया चेत्यतः श्रेष्ठत्वादिन्द्रः। वाशब्दः सम्भावने। अन्यैरपि देवश्रेष्ठैरिदं विधानमाचीर्णम्। कुतस्तर्हि युष्मदादिभिर्मनुष्यमात्रैः ? तस्मात् सम्भाव्योऽयमर्थः। आह—कदा चीर्णमिति ? उच्यते--अग्रे। अत्राग्र इति पूर्वकालमधिकुरुते। कुशिकेशानसम्बन्धात् प्राक्। प्रथमममरैश्चीर्णम्। कृतत्रेताद्वापरादिषु युगेष्वित्यर्थः। आह—केष्वाचीर्णमिति ? उच्यते--असुरेषु। अत्रासुरा नाम सुरेतराः स्तेययुक्ताः। प्राणापहरणाद् वा असुराः प्रजापतिपुत्रा विज्ञेयाः। असुरेष्विति सामीपिक सन्निधानम्। असुरसमीपे असुराभ्याशे असुराणामध्यक्ष इत्यर्थः। आह—किं तदिति ? उच्यते—पाशुपतम्। अत्र पशुपतिनोक्तपरिग्रहाधिकारेषु वर्तत इति पाशुपतम्। पशुपतिर्वास्मिन् चिन्त्य इति पाशुपतम्। पशुपतिप्रापकत्वाद् वा पाशुपतम्। पाशुपतमिति समस्तस्य सम्पूर्णस्य विधानस्यैतद् ग्रहणम्। कस्मात् ? व्यक्तलिङ्गपूर्वकत्वादव्यक्तादिक्रमस्य। तस्मात् कृत्स्नमिदमेव विधानमाचीर्णमिन्द्रेण दुःखान्तार्थिना शुद्धिवृद्ध्यर्थम्। धर्मबाहुल्यात् सुराणां भुव्याचीर्णम्। अचरदित्यतीतः कालः। अतीते काले चीर्णवानित्यर्थः॥ १०॥

आह—इन्द्रेणासुरेष्वाचरता किं फलं प्राप्तम् ? तदुच्यते—

स तेषामिष्टापूर्तमादत्त ॥ ११ ॥

स इतीन्द्रग्रहणम्। तेषाम् इत्यसुरनिर्देशः। इष्टापूर्तम् इति द्वन्द्वसमासः। इष्टं च पूर्तं चेष्टापूर्तम्। तत्र यन्मन्त्रपूर्वकेण विधिना दत्तं हुतं

स्तुत्यादिनिष्पन्नं तदिष्टम् । यदमन्त्रपूर्वकेणैव तत् पूर्तम् ॥ ११ ॥

इन्द्रेणासुरेभ्यः केनोपायेन दत्तमिति ? उच्यते—

मायया सुकृतया समविन्दत ॥ १२ ॥

क्राथनस्पन्दनादिप्रयोगैः धिक्कृतस्य निद्राविष्टो वायुसंस्पृष्टो मन्दकारी असम्यक्कारी असम्यग्वादीति योऽयं दुष्टशब्दोऽभियोगशब्दश्च निष्पद्यते, तस्मिन्ननृते मायासंज्ञा । मानसकायिकाभियोगे च । मायया इति तृतीया । सुकृतया इति । सु प्रशंसायाम् । तया सुकृतया सम्यक् प्रयुक्तयेति साधकसाधनप्राधान्यम् । अविन्दत इति प्राप्तौ प्राधान्ये च । स तेषामिष्टापूर्तमादत्तेति । उक्तं हि—

आक्रोशमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षति ।
स तेषां दुष्कृतं दत्त्वा सुकृतं चास्य विन्दति ॥"

इति ॥ १२ ॥

आह – उत्तम इन्द्रः । स तेषामिष्टापूर्तमित्युक्ते परापदेशेनास्य वृत्तिर्निर्गूणीकृता । अथात्मापदेशोऽत्र किमस्ति नेति ? उच्यते—अस्ति । यस्मादाह—

निन्दा ह्येषानिन्दा तस्मात् ॥ १३ ॥

अत्रावमानपरिभवाद्या निन्दा । कुत्सा गर्हा इत्यर्थः । हि शब्दो निन्दोत्तमोत्कर्षोपक्षेपे द्रष्टव्यः । उत्तमाधिकाराद् गम्यते । एषा इत्यतिक्रान्तापेक्षणे । अवमानपरिभवपरिवादाद्या निन्देत्यर्थः । अनिन्दा इत्यकारो निन्दितत्वं प्रतिषेधति । अनिन्दा अकुत्सा अगर्हा इत्यर्थः । अत्र तस्माच्छब्दः पूर्वोत्तरं चापेक्षते । तत्र पूर्वाकाङ्क्षायां तावत् कृत्स्ना निन्दा प्रकरणगुणवचने (?) यस्मादिन्द्रस्यापि शुद्धिवृद्धिकारिणी आत्मापदेशेन परापदेशेन च भगवता असन्मानचरिर्गुणीकृता तस्मादित्यर्थः । आह—निराकाङ्क्षानिर्देशात् सन्देहो यथा यथा वर्णितं तथा तथा च व्याख्यातम् (?) ॥ १३ ॥

निन्दाया अनिन्दितत्वं गुणं ज्ञात्वा साधकेन किं कर्तव्यम् ? तदुच्यते-

निन्द्यमानश्चरेत् ॥ १४ ॥

अत्र निन्दा पूर्वोक्ता। निन्द्यमानेनैव निन्दायाः वर्तमानकाल इत्यर्थः। चरेद् इत्यार्जनमधिकुरुते। धर्मार्जने नियोगे च। संशयान्यत्वाच्चापुनरुक्तश्चरिशब्दो द्रष्टव्यः ॥ १४ ॥

अत्रेदमानुसिङ्गकम् असन्मार्गचरिप्रकरणं परिसमाप्तम् ॥

आह – निन्द्यमानश्चरेदित्युक्त्वा आद्यं विधानमाचरतः कोऽर्थो निष्पद्यते ? निष्पन्नेन वा कथमभिलप्यते ? तदुच्यते—

अनिन्दितकर्मा ॥ १५ ॥

अत्र चर्योत्तरसम्बन्धाद् गम्यते यदेतदनिन्दितं कर्म धर्मः स एव निन्द्यमानस्याचरतो निष्पद्यते। अतः अनिन्दितकर्मा भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

आह—निन्द्यमानस्याचरतोऽनिन्दितं कर्म भवतीति क्व सिद्धम् ? तदुच्यते—इह। यस्मादाह—

सर्वविशिष्टोऽयं पन्थाः ॥ १६ ॥

अत्र अयम् इति प्रत्यक्षे। यथायं पुरुषः ॥ १६ ॥

यथाविधिश्चरिरिति याः क्रियाः, अत्राधिकृतस्यानिन्दितं कर्म भवतीत्याह भगवान्—

सत्पथः ॥ १७ ॥

कस्मात् ? रुद्रसमीपप्रापणसामर्थ्यात्। अनावृत्तिप्रापणसामर्थ्याच्चाविकलः : तस्मात् सर्वज्ञवचनाविसंवादित्वाच्चायं सत्पथ इत्यर्थः ॥ १७ ॥

आह – किमन्यत्र पन्थानो सन्ति इति ? उच्यते—सन्ति।

किन्तु,

कुपथास्त्वन्ये ॥ १८ ॥

अत्र कु कुत्सायां भवति। कस्मात् ? कुशब्दप्रयोगाद् गम्यते। कुपुरुषवत्। पन्थानो विधय उपाया इत्यर्थः। तु शब्दोऽनावृत्त्युत्कर्षे। अन्ये

इति । गृहस्थब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुपाषण्डिनां पन्थानः ते कुपथाः ॥ १८ ॥

न । आह—अयमेव सत्पथः, शेषाः कुपथा इति क्व सिद्धम् ? किं वाऽस्य सत्पथत्वम् ? शेषाणां वा कुपथत्वं किमिति ? उच्यते – इह । यस्मादाह––

अनेन विधिना रुद्रसमीपं गत्वा ॥ १९ ॥

अत्र अनेन इत्यनपेक्षणे । विधिना भस्मस्नानक्राथनादिनोपायेनेत्यर्थः । विधिनेति तृतीया । रुद्र इति कालोपदेशे । रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम् । समीपम् इति योगपर्यायः । कथं गम्यते ? विध्यनन्तरोक्तत्वात् । सति विधिविषयत्वे पुरुषेश्वरयोर्विषयाधिकारकृतं वियोगं दृष्ट्वा ज्ञानपरिदृष्टेन विधिनाध्ययन-ध्यानाधिकृतो विशुद्धभावः समीपस्थ इत्यर्थः । गतिः प्राप्तिर्भावस्येत्यर्थः त्वा इति विधिकर्मणोर्निष्ठा ॥ १९ ॥

आह––अत्रैवं विध्याचरणं समीपगमनं च कस्योपदिश्यते ? उच्यते-न तीर्थयात्रादिधर्मवत् सर्वेषाम् किन्तु संस्कारवद् ब्राह्मणस्यैव । यस्मादाह–

न कश्चिद् ब्राह्मणः पुनरावर्तते ॥ २० ॥

अत्र नकारोपदेशोऽन्याचरणप्रतिपत्तिप्रतिषेधार्थः । कश्चिद् इति गृहस्थाद्यः । स्थानमात्रवैलक्षण्यदर्शनाद् ब्राह्मणेष्वेव कश्चिच्छब्दः । गृहस्थो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो भिक्षुरेकवेदो द्विवेदस्त्रिवेदश्चतुर्वेदो गायत्रीमात्रसारो वानेन विधिना रुद्रसमीपं प्राप्तः सन् न कश्चिद् ब्राह्मणः पुनरावर्तत इत्यर्थः ब्राह्मणग्रहणं ब्राह्मण्यावधारणार्थं, ब्राह्मण एव नान्य इत्यर्थः । क्षेत्रज्ञे च ब्राह्मणसंज्ञा । कस्मात् उपचयजन्मयोगात् संस्कारयोगात् । श्रुतयोगाच्च ब्राह्मणः । पुनः शब्दः पुनरावृत्तिप्रतिषेधे । यथा एवं संज्ञानादिभिर्गत्वा आवर्तते पुनः पुनः तथानेन विधिना रुद्रसमीपं ग । न सकृदावर्तते । पुनः पुनः सर्वथापि नावर्तत इत्यर्थः । आङ् इति स्वशास्त्रोक्तमर्यादामधिकुरुते, अभिविध्यर्थं च । ये चानेन विधिनाक्षपिताज्ञानकलुषपापमायादयः क्षीणाः ते पुनः पुनरावर्तन्ते । न तैः सह संयोगो भवति । न चापरं जन्म प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ २० ॥

[एवमध्यायपरिसमाप्तिं कृत्वा युक्तं वक्तुम्--

अत्रेदं ब्रह्म जपेत् ।[1] २१ ॥

अस्य पूर्वोक्तोऽर्थः ॥ २१ ॥

आह - किं पुनस्तद् ब्रह्म ? तदुच्यते--कारणादिभावेनोक्तस्य भगवत एकत्वं साधको ज्ञात्वा तत्साधनमारभते -

तत्पुरुषाय विद्महे ॥ २२ ॥

अत्र पूर्वं कारणत्वबहुत्वनानात्वेनोपदिष्टस्य परामर्शः तद् इति । पुरुष इति पौरुष्यानुपूरणाच्च पुरुषः । पौरुष्यमस्यानेकेषु रूपेष्ववस्थानात् । तत्संस्थानि रूपाणि अघोरादीनि । तत्पुरुषायेति चतुर्थी । यथा ग्रामाय तत्त्वं ज्ञातुमिच्छति, तथा पुरुषाय तत्त्वं ज्ञातुमिच्छति । विद्मह इति । विद ज्ञाने । विद्महे जानीमहे उपलभामह इत्यर्थः ॥ २२ ॥

आह--पुरुषबहुत्वात् संदेहः । अथ कतमस्मै पुरुषाय ? तदुच्यते -

महादेवाव धीमहि ॥ २३ ॥

अत्र महादेवत्वं च पूर्वोक्तम् । महादेवायेति चतुर्थी । धीमहि इति । धीङ् संश्लेषणे । ध्यायेमहि लीयामहे ज्ञानक्रियाशक्तिभ्यां संयुज्यामह इत्यर्थः । अत्र धी इति ज्ञानशक्तिपर्यायः । यया सर्वपदार्थानां तत्त्वमधिगच्छति, सा ज्ञानशक्तिः । महि इति क्रियाशक्तिपर्यायः । यया विधियोगाचरणसमर्थो भवति सा क्रियाशक्तिरित्यर्थः ॥ २३ ॥

आह - अथैते दृक्क्रियाशक्ति महादेवात् साधकः किं स्वशक्तित आसादयति ?, आहोस्वित् परशक्तितः ? उतोभयशक्तितः ? तदुच्यते--परशक्तितः यस्मादाह--

तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ॥ २४ ॥

तद् इति दृक्क्रियाशक्त्योर्ग्रहणम् । नो इत्यात्मापदेशे । अस्माकमित्यर्थः । रुद्र इति कारणापदेशे । रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम् । प्र इत्यादिकर्मणि । चुद प्रेरणे । चोदनं नाम ज्ञानक्रियाशक्तिसंयोगः । याद् इति लिप्सा । संयोज-

यस्त्व मामित्यर्थः। उक्तं हि––"रुद्रस्येच्छापूर्वको यो योगो ज्ञानक्रियाशक्तिभ्यां पश्वादिषु सम्भवः, तच्चोदनमाहुराचार्याः" ॥ २४ ॥

एवमत्र भगवत्कोण्डिन्यकृते पञ्चार्थभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः सह ब्रह्मणा ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिसमाप्त इति ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

इदानीं पञ्चमाध्यायमवसरप्राप्तं सम्बन्धं कृत्वा वक्ष्यामः। यस्मादाह—असङ्गयोगी इत्येव तावत् पञ्चमस्याध्यायस्यादिरिति। इदानीं पञ्चमस्य चतुर्भिरध्यायैः सह सम्बन्धं कृत्वा व्याख्यानं करिष्यामः। आह–चतुर्विधत्वात् सम्बन्धस्य संदेहः। इह चतुर्विधः सम्बन्धो भवति। तद्यथा––सूत्रसम्बन्धः प्रकरणसम्बन्धोऽध्यायसम्बन्धो। दूरस्थश्चेति। उक्तं हि—

"सूत्रप्रकरणाध्यायैः सम्बन्धस्त्रिविधः स्मृतः।
दूरस्थश्चार्थशेषेण पूर्वात् सम्बन्ध इष्यते ॥"

एवं चतुर्विधः सम्बन्धो भवति यस्माद्, अतो नः संशयः कतमोऽयं सम्बन्ध इति? तदुच्यते—न तावदयं सूत्रसम्बन्धो न प्रकरणसम्बन्धो न दूरस्थसम्बन्धः। किन्त्वयमध्यायसम्बन्धः। आह––यद्येवं तस्माद् उच्यतां, कतमस्य पदार्थस्य शेषेणायं सम्बन्धः कथ्यते? योगशेषेण आह—अस्मिन् योगपदार्थे किं शेषम्? किं वा नियतं शेषत्वेन यत् सम्बध्यते? तदुच्यते––पूर्वं चतुर्ष्वध्यायेषु कारणत्वबहुत्वनानात्वेनोक्तस्य भगवत एकत्वं नोक्तम्। तद् वक्ष्यामः। तत्र कारणत्वं तावदुक्तं––पतिः सन् आद्योऽजातो भवोद्भवः (अ० १, सू० ३८, ४० & ४४) इति। बहुत्वमुक्तं—

वामो देवो ज्यष्टो रुद्रः कामी शङ्करः कालः कलविकरणो बलप्रमथनः सर्वभूतदमनो मनोऽमन (अ० २, सू० १-४, ६, २० & २३-२७) इति । नानात्वं चोक्तम्—अघोरो घोरो घोरतर (अ० ३, सू० २१-२३) इति । एवं कारणत्वबहूत्वनानात्वेनोक्तस्य भगवत एकत्वं वक्ष्यामः । यादृशं महेश्वरे योक्तव्यं तत्तत्त्वनिर्देशं करिष्यामः । उक्तं च—'उभयथा यष्टव्य' (अ० २, सू० ९) । अथ कीदृशे महेश्वरे उभयथा यजनादयः कर्तव्याः ? तदुच्यते—यादृशे महेश्वरे उभयथापि यजनादयः कर्तव्याः, भक्तिसमीपं देवनित्यता नित्ययुक्तता अध्ययनं ध्यानं स्मरणं सायुज्यं चित्तस्थितिर्द्रष्टव्या, तथा वक्ष्यांमः । यथा चायमात्मा दोषादिविष्टः शुद्धो युज्यते, तथा वक्ष्यामः तन्निष्ठायोगलक्षणं, निष्ठायोगक्रियायोगयोः प्रतिविभागं वसत्यर्थे वृत्तिबलं क्रियाबलं च तद् वक्ष्यामः । तथा समीपप्राप्तस्य चित्तस्थितिं च वक्ष्यामः । अत एभिरुक्तशेषैः पञ्चमोऽध्यायः सम्बध्यते । यस्मादाह—

असङ्गः ॥ १ ॥

अत्र अकारः सङ्गप्रतिषेधे । अत्र सङ्गो नाम यदेतत् पुरुषे विषयित्वम् । तेन विषयित्वेन योगादधर्मेण चायं पुरुषो यदा अध्ययनध्यानादिभ्यश्च्यवति । दृष्टान्तश्रवणप्रेक्षणलक्षणो वनगजवत् त्रैकाल्यमित्यर्थः (?) असङ्गित्वमप्यतीतानागतवर्तमानानां विषयणामनुचिन्तनं भिक्षुवत् । एवं महेश्वरे भावस्थितिस्तदसङ्गित्वमित्यर्थः ॥ १ ॥

आह—किमसङ्गित्वमेवैकमुक्तं नान्यल्लक्षणम् । उच्यते—यस्मादाह—

योगी ॥ २ ॥

इति । अत्र योगो नाम—आत्मेश्वरसंयोगो योगः प्रत्येतव्यः उक्तं हि—

"शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्विविधैर्गीतवादितैः ।
क्रियमाणैर्न बुध्येत एतद् युक्तस्य लक्षणम् ॥"

इति ॥ २ ॥

आह—किं लक्षणद्वयमेवात्र युक्तस्योच्यते ? न । यस्मादाह—

नित्यात्मा ॥ ३ ॥

अत्र नित्यत्वविशेषणेनानित्यत्वं निवर्तते । नाम सति विभुत्वे पुरुषेश्वरयोर्मनसा सह गतस्यात्मताभावस्य वृत्त्याकारस्य विषयं प्रति क्रमोऽक्षोपोऽवस्थानं वृक्षशकुनिवत् । तस्मिन् निर्वृत्ते महेश्वरे युक्तो नित्य इत्युच्यते आत्मा इति क्षेत्रज्ञमाह । कथं गम्यते ? चित्तस्थित्युपदेशाद् योगार्थं विद्याचरणोपदेशाद् असङ्गयोगियुक्तात्माजमैत्रादीना चेतने सम्भवात्, न त्वचेतनेषु कार्यकरणप्रधानादिषु । तस्मिश्चेतने आत्मशब्दः । आत्मा च कस्मात् ? अततीत्यात्मा । आपूर्य कार्यकरणं विषयांश्चेतयतीत्यात्मा । उक्तं हि--

"यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान् पुनः ।
यच्चास्य सततं भावः तस्मादात्मेति संज्ञितः ॥"

स च श्रोता स्प्रष्टा द्रष्टा रसयिता घ्राता मन्ता वक्ता बोद्धा इत्येवमादिः । उक्तं हि--

"पुरुषश्चेतनो भोक्ता क्षेत्रज्ञः पुद्गलो जनः ।
अणुर्वेद्योऽमृतः साक्षी जीवात्मा परिभूः परः ॥"

इति । तस्य सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नचैतन्यादिभिर्लिङ्गैरधिगमः क्रियत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

आह—किं लक्षणत्रयमेवास्य युक्तस्योच्यते ? न यस्मादाह--

अजः ॥ ४ ॥

अत्र अज इत्यर्थान्तरप्रादुर्भावप्रतिषेधोऽभिधीयते । अत्रार्थान्तरं नाम शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान्तरम् अध्ययनध्यानस्मरणादयः (च)। तेषु न जायत इति अजः ॥ ४ ॥

आह – किं लक्षणचतुष्कमेवास्य युक्तस्योच्यते ? न । यस्मादाह—

मैत्रः ॥ ५ ॥

अत्र मैत्र इनि समतायां भवति । यथा मैत्र आदित्यः । सर्वभूतस्थिते च महेश्वरे स्थितचितः इच्छाद्वेषनिवृतोऽप्रवृत्तिमान् मैत्र इत्युच्यते ।

तस्मात् कार्यकरणवानेव चित्तस्थितिसमकालमेवासङ्गादिभावेन जायते ॥ ५ ॥

आ – अथ कथं पुनरेतद् गम्यते। यथा कार्यकरणवानेव चित्तस्थितिसमकालमेवासङ्गादिभावेन जायते ? उच्यते - गम्यते। यस्मादाह—

अभिजायते ॥ ६ ॥

अत्र अभिशब्दो विशेषणे। को विशेष इति चेत्। तदुच्यते। यस्मादयं सङ्गी अयोगी अनित्यात्मा अनजोऽमैत्रश्च भूत्वा असङ्गादिभावेन जायत इत्येष विशेषः। जायते इति। जनी प्रादुर्भावे। तस्मात् कार्यकरणवानेव चित्तस्थितिसमकालमेवासङ्गादिभावेन युगपज्जायते। अवश्यादिवद् (अ० १, सू० २८) इत्यर्थः ॥ ६ ॥

असङ्गादिभावे कोऽसावभ्युपायो येन जायते ? उच्यते—

इन्द्रियाणामभिजयात् ॥ ७ ॥

अत्र जितता जयः। तस्माज्जयादसङ्गतादि भवति। अत्र परिग्रहतयेश्वराणि इन्द्रियाणि बुद्ध्यादीनि वागन्तानि त्रयोदशकरणानि। तेषामभिजयादित्यर्थः। आह—कथं बुद्धि (? द्ध्यादिं) सिद्धिरिति चेत् ? तदुच्यते–सिद्धत्वात्। अत्र मतिबुद्धिपिधानस्थापनोद्देशाद् घटपटवत् सिद्धत्वाच्च बुद्धिः सिद्धा। तथा परोपदेशात् स्वात्मपरात्मप्रतिविभागदर्शनात् सुरोऽहं नरोऽहमिति भिन्नवृत्तित्वाच्चाहङ्कारः सिद्धः। तथा मनः प्रवर्तते मनोजवी मनोऽमन इति संकल्पविकल्पवृत्तिनानात्वं च सिद्धम्। एवं त्रिकालवृत्त्यन्तःकरणं पुरुषस्य व्याख्यातम्। तथा बुद्धीन्द्रियाणां श्रोतं व्याख्यातम्। परपरिवादादि (अ० ३, सू० ७) वचनाद् उच्चैरुभयथा प्रमुखे द्विरधिष्ठाने सन्निविष्टं समन्ताच्छब्दव्यञ्जनसमर्थं सिद्धम्। तथातितपोपदेशात् (अ० २, सू० १६) त्वग् अन्तर्बहिश्च शरीरं व्याप्य सन्निविष्टा स्पर्शव्यञ्जनसमर्था सिद्धा। तथा मूत्रपुरीषदर्शनप्रतिषेधात् (अ० १, सू० १२) कृतान्नादिवचनाच्च (अ० ४, सू० ७) चक्षुः उच्चैरुभयथा प्रमुखे द्विरधिष्ठाने सन्निविष्टं घटरुपादिव्यञ्जनसमर्थं सिद्धम्। तथा मांसलवणोयदेशाद् (अ० ५, सू० १६) जिह्वा

तन्मुखे मांसपेश्यां सन्निविष्ठा रसज्ञानजननसमर्था सिद्धा। तथा प्राणायामोपदेशाद् (अ० १, सू० १६) घ्राणं प्रमुखे उच्चैरुभयथा द्विरधिष्ठाने सन्निविष्टं गन्धग्रहणसमर्थं सिद्धम्। एवमधिकारिवृत्तिभिर्बुध्यत्येभिः पुरुष इति बुद्धीन्द्रियाणि। तथा कर्मेन्द्रियाणि। मण्टनविहरणोपदेशात् (अ० ३, सू० १४, ४, ६) पादेन्द्रियमधस्ताद् द्विरधिष्ठाने सन्निविष्टं गमनक्रियासमर्थं सिद्धम्। तथा मूत्रपुरीषदर्शनप्रतिषेधात् (अ० १, सू० १२) पाय्विंद्रियं गुह्यप्रदेशे सन्निविष्टम् उत्सर्गक्रियासमर्थं सिद्धम्। तथा स्त्रीप्रतिषेधाद् (अ० १, सू० १३) उपस्थेन्द्रियं त्रिवलीगुह्यप्रदेशसन्निविष्टमानन्दक्रियासमर्थं सिद्धम्। तथा अपितत्कर्मोपदेशात् (अ० ३, सू० १६) हस्तेन्द्रियमुच्चैरुभयथा द्विरधिष्ठाने भुजान्तर्देशे सन्निविष्टमादानक्रियासमर्थं सिद्धम्। तथा अपितद्भाषणोपदेशाद् (अ० ३, सू० १७) वागिन्द्रियं वाक्तालुजिह्वादिषु सथनेषु सन्निविष्टं वचनक्रियासमर्थं सिद्धम्। अत्र विकारतद्वृत्तिभिः कर्मोत्पत्तिः पुरुषे इति कर्मेन्द्रियाणि। एवमेतानि त्रयोदशकरणानिन्द्रियाणि सूत्रतो व्याख्यातानि। कस्मात्? इन्द्रियाणामिति सामान्यग्रहणाद् विकरणवत् सामान्यप्रतिषेधाच्च। इन्द्रियाणाम् इति षष्ठीबहुवचनम्। उक्तं हि—

"आदानाद् ग्रहणात् त्यागाद् रङ्गणाद् गमनात् तथा।
इङ्गनाद्रवणाच्चैव तस्मादिन्द्रियमुच्यते॥"

अभिजयाद् इति। अभिशब्दः अत्यन्तविजये वशीकरणे च। आक्रम्य वशीकर्तव्यानि। वायुकामक्रोधपाटलिपुत्रवत्। तस्मादकुशलेभ्यो व्यावर्तयित्वा कामतः कुशले योजितानि (यदा), तदा जितानि भवन्ति। तस्माद् उक्तम्—इन्द्रियाणामभिजयादिति। असङ्गादिजन्मनिमित्तत्वात् पञ्चमी द्रष्टव्या॥ ७॥

आह—अन्यत्र साङ्ख्ययोगादीनाम् असङ्गादियुक्ताः मुक्ताः शान्ति प्राप्ताः। निरभिलप्या मुक्ता इत्युच्यन्ते। मुक्त एव न युक्त इति क्व सिद्धम्? तदुच्यते—इह। यस्मादाह—

रुद्रः प्रोवाच तावत् ।। ८ ।।

अत्र रुद्र इति कारणापदेशे। रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। प्र इत्यभिधानविशुद्धौ। प्रसन्नेन्द्रियवत्। वच व्यक्तायां वाचि। प्रोवाच इति। एवं यत् साङ्ख्यं योगश्च वर्णयति असङ्गादियुक्ताः मुक्ताः शान्ति प्राप्ता इति, तदविशुद्धं तेषां दर्शनम्। तैमिरिकस्य चक्षुषश्चन्द्रदर्शनवत्। अयं तु युक्त एव न मुक्त इति विशुद्धमेतद्दर्शनं द्रष्टव्यम्। कस्मात्? सर्वज्ञवचनादविसंवादित्वाच्चैतद्। गम्यम्। एवमेतन्नान्यथेत्यर्थः। किञ्चान्यदिदम् अथशब्दादि शिवान्तं प्रवचनं रुद्रप्रोक्तं तावत् सर्वतन्त्राणां श्रेष्ठम्। तस्मात् कारणशास्त्रयोः परप्रमाणभावोऽवधार्यत इत्यर्थः। अत्र श्लोको निर्वचनः ।। ८ ।।

आह-किमेतानीन्द्रियाणि परिज्ञानमात्रादेव जितानि भवन्ति प्रधानवत्? तदुच्यते--न। ज्ञानेन वचनादिभिरेषां जयः कर्तव्यः, यस्मादेषां जये भगवता वसत्यर्थवृत्तिबलक्रियालाभाय वसता (?) इत्यतस्तज्जये वसत्यर्थ एव तावदुच्यते। यस्मादाह—

शून्यागारगुहावासी ।। ९ ।।

इति। अत्र शून्यमेवागारं शून्यमेवागारम्। शून्यं विविक्तं निर्जनमित्यर्थः। आगारम् इति गृहपर्यायः। आगारं गृहं वेश्म सदनमिति पर्यायः गुहू संवरणे। प्रविष्टं साधकं आवरयति गोपयतीति गुहा। आह—आवरकत्वाविशेषाच्छून्यागारगुहयोरविशेष इति चेत्, तदुच्यते--मृत्तृणकाष्ठादिकृतम् अगारं, पर्वतगुहाद्या गुहा। तस्मान्नाविशेष इति। यथा सति विभुत्वे ज्ञत्वं साधर्म्यं पुरुषेश्वरयोः; सर्वज्ञत्वतो विशेषः। तस्मादायतनेऽविविक्तदोषं दृष्ट्वा शून्यागारे गुहायां वा यथोपपत्तितो विचार्य विविक्तं विवेच्य यन्मात्रस्थानासनशयनादिभिरूपजीवति, तन्मात्रं संस्करणमर्यादयोपयोगक्रियाभिनिविष्टेन वस्तव्यम्। वसतिसंयोगाद् गुहावासी भवति। पुलिनवासिवत् ।। ९ ।।

आह—तत्र कथं ज्ञेयं, यथा किं तानीन्द्रियाणि? तेषां जितानां वा किं लक्षणम्? तदुच्यते--

देवनित्यः ॥ १० ॥

अत्र देवो भगवान् । तत्र यदास्य भगवति देवे नित्यता । कथम् ? अध्ययनध्यानाभ्यां देवेऽधिकृतस्य प्राधान्येन निश्चलता वर्तते । स्वल्पतर-व्यवधानेऽपि अतियोगाभ्यासनिरन्तरप्राप्तिः । स्मृतिस्तु देवनित्यते-त्यर्थः ॥ १० ॥

आह—देवनित्यतायाः किं लक्षणम् ? । तदुच्यते—जितेन्द्रियत्वम् । यस्मादाह—

जितेन्द्रियः ॥ ११ ॥

अत्र जितेन्द्रयत्वं नाम उत्सर्गनिग्रहयोग्यत्वम् । इन्द्रियाणि बुद्ध्या-दीनि वागन्तानि त्रयोदश करणानि पूर्वोक्तानि । तानि यदा अकुशलेभ्यो व्यावर्तयित्वा कामतःकुशले योजितानि हृतविषदर्वीकरवदवस्थितानि भवन्ति तदा देवनित्यो जितेन्द्रय इत्यर्थः ॥ ११ ॥

आह--किं देवनित्यतैवास्य परो निष्ठायोगः ? । उच्यते—न । यस्मादाह—

षण्मासान्नित्ययुक्तस्य ॥ १२ ॥

अथवान्यो दूरस्थः सम्बन्धः । यस्मादुक्तं—

"यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थमपि तेन हि ।
अर्थतोऽन्यसमानानामानन्तर्येऽप्यसङ्गतिः ॥"

एवमिहापि दूरस्थः सम्बन्धः । कस्मात् ? । इह पुरस्तादुक्तं विज्ञानानि चास्य प्रवर्तन्ते (अ० १, सू० २१) इति, एतैर्गुणैर्युक्त (अ० १,सू० ३८) इति च । (एतत् ?) कियता कालेनास्य ते गुणाः प्रवर्तन्ते ? किं युक्तस्य, किं वियुक्तस्य ?, किं युगपत्, क्रमशो वा ?, किं सकलस्य निष्कलस्य येति ? इत्येषामर्थानामनिर्वचनानां निर्वचनार्थमिदमारभ्यते । यस्मादाह--षण्मा-सान्नित्ययुक्तस्य । अत्र सङ् इति सङ्ख्या । मासान् इति कालनिर्देशः । मनुष्यगणनया त्रिंशद्दिवसो मासः । द्वादश मासाः संवत्सरः । द्वादश पक्षा

अर्धसंवत्सरः। षण्मासानिति। तस्मात् षष्ठप्रथममासयोरभ्यन्तरे। नित्ययुक्तस्य। (नित्यं) सन्ततमविच्छिन्नमित्यर्थः। युक्त इति। आत्मेश्वरसंयोगो योगः। नित्ययुक्तस्य इति षष्ठी॥ १२॥

आह—अस्य युक्तस्य किं भवति? तदुच्यते--

भूयिष्ठं सम्प्रवर्तते॥ १३॥

अत्र भूयिष्ठम् इति क्रमे प्राये च भवति। यथा क्रमशो ददाति, आदित्यो वा गतो भूयिष्ठम्। तस्मात् सूच्यग्रेणोत्पलपत्रशतभेदनक्रमवत् क्रमाद् दूरदर्शनादयः प्रवर्तन्त इत्यर्थः। सम् इत्येकीभावे। निष्कलस्य कार्यकरणरहितस्येत्यर्थः। प्र इत्यादिकर्मण्यारम्भे भवति। युक्तोत्तरे प्रभावाद् गुणाः प्रवर्तन्ते इत्यर्थः। वर्तते कस्मिन्? दर्शनं दृश्ये श्रवणादि श्रव्यादिष्वित्यर्थः। तस्मात् षष्ठप्रथममासयोरभ्यन्तरे नित्ययुक्तस्य क्रमशो गुणाः संप्रवर्तन्ते। कुतः? महेश्वरप्रसादात्। अशिवत्वसंज्ञके विनिवृत्ते शिवत्वप्रसादाभ्यां गुणाः प्रवर्तन्ते। गुणशब्दो दूरदर्शनादिवचनः॥ १३॥

आह--कां वृत्तिमास्थाय शून्यागारे गुहायां वासः कार्यः?। तदुच्यते--

भैक्ष्यम्॥ १४॥

भिक्षाणां समूहो भैक्ष्यं, कापोतवत्। तच्च नगरग्रामादिभ्यो गृहाद् गृहं पर्यटतो भक्ष्यभोज्यादीनामन्यतमं यत् प्राप्यते। कृतान्नादि (अ० ४, सू० ७) वचनाद् भैक्ष्यम्। भयक्षपणाद् भैक्ष्यम्। भिक्षावचनादभैक्ष्यप्रतिषेधः॥ १४॥

आह—आधारात्तु कृत्वा संदेहः, अथ कुत्र तद् भैक्ष्यं ग्राह्यम्? तदुच्यते—पात्रे। यस्मादाह—

पात्रागतम्॥ १५॥

अत्र भैक्ष्यवत् प्रसिद्धं पात्रम्। अलाबुदारुवस्त्रादीनामन्यतमं यत् प्राप्यते, तत् खलु हिंसास्तेयादिरहितेन क्रमेणाहारेयत्पर्याप्तं ग्राह्यम्। तस्मि०

तदफलके पात्रे आगतं पात्रागतमित्यर्थः ॥ १५ ॥

आह--ब्रह्मचारिकल्पे मधुमांसलवणवर्जमिति। तत् किं मधुमांसादीन्येकान्तेनैव दुष्टानीति ? तदुच्यते—न। यस्मादाह—

मांसमदुष्यं लवणेन वा ॥ १६ ॥

तत्र भैक्ष्यवत् प्रसिद्धं मांसम्। यस्य माहिषवाराहादीनामन्यतमं यत् प्राप्यते तत् खलु, हिंसास्तेयरहितत्वात्। लवणेन वा। अत्र लवणं नाम सैन्धवसौवर्चलाद्यं मांसवत् प्रसिद्धम्। तदेतन्मांससमसंसृष्टं वा भैक्ष्यविधिना प्राप्तम्। अदुष्यम् अकुत्सितम् अगर्हितमित्यर्थः। वा विकल्पे। मांसेन वा लवणेन वा उभाभ्यामपि साक्षाद्वा अदुष्यमित्यर्थः ॥ १६ ॥

आह—भैक्ष्यालाभकाले अपर्याप्तिकाले वा किमनेन कर्तव्यम? तदुच्य ते—अपः पीत्वा स्थेयम्। यस्मादाह—

आपो वापि यथाकाल मश्नीयादनुपूर्वशः ॥ १७ ॥

अत्र आङ् आपः आपः। आङ् इति। संवृतपरिपूतादिमर्यादामधिकुरुते, कृतान्नोत्सृष्टवद् अपदान्तरितत्वात्। द्वितीयास्थाने प्रथमा द्रष्टव्या। आपोऽत्र लोकादिप्रसिद्धाः। तृणादिव्यावृत्तमुदकमित्यर्थः। वा विभागे। अन्यद् भैक्ष्यम् अन्या आप इति। अपिशब्दः सम्भावने। अप्यपः पीत्वा स्थेयं, न तु शास्त्रव्यपेतेन क्रमेण वृत्त्यर्जनं कर्तव्यमित्यर्थः। यथा इतिशब्दः समानार्थे। यथा भैक्ष्योपदेशं कृत्वा योगकर्मण्युद्यमः कर्तव्य इति व्याख्यातं, तथा अपः पीत्वेति। कालोऽत्र द्विविधः। अलाभकालः अपर्याप्तिकालश्च। तत्र यदा ग्रामं नगरं वा कृत्स्नमटित्वा न किञ्चिदासादयति, सः अलाभकालः। अपर्याप्तिकालो नाम यदा भिक्षां भिक्षाद्वयं वा आसादयति, तदा अपः पीत्वापि स्थेयम्। आह--एवं स्थितेन किमनेन कर्तव्यम्?। तदुच्यते—उपयोक्तव्यम्। यस्मादाह—अश्नीयादनुपूर्वशः इति अश्नीयादिति योगक्रियानुपरोधेनाहारलाघवमर्यादामधिकुरुते। अश भोजने। अश्नीयादनुपूर्वशः। अनु पृष्ठकर्मक्रियायाम्। अनुपूर्वश इति अतिक्रान्तापेक्षणे प्रकारवचने च। यथापूर्वं ग्रामादि प्रविश्य भैक्ष्यार्जनं कृत्वालाभकाले अपर्या-

त्रिकाले वा तदनु पश्चादपः पीत्वा स्थेयमिति कृत्वा भगवता एतदुक्तम् अश्नीयादनुपूर्वश इति । अत्र श्लोको निर्वचनः ॥ १७ ॥

आह—शून्यागारगुहावस्थस्येन्द्रियजयेन वर्ततोऽस्य बलं किं चिन्त्यते ?- किमकलुषत्वमेव ? तदुच्यते--न । यस्मादाह--

गोधर्मा मृगधर्मा वा ॥ १८ ॥

अत्र गोर्लोकादिप्रसिद्धो मृगवत् खुरककुदविषाणसास्नादिमानिति । तथा मृगोऽपि गोद्रव्यवल्लोकादिप्रसिद्धः कृष्णमृगादीनामन्यतमः । तयोस्तु सति धर्मबहुत्वे समानो धर्मी गृह्यते, आध्यात्मिकादिद्वन्द्वसहिष्णुत्वम् । तदुत्तरत्र वक्ष्यामः । गोमृगधर्मग्रहणं तु परस्परविशेषणार्थम् । वाशब्दो विकल्पार्थः । क्रियासामान्यदृष्ट्या रौद्रीबहुरूपीवदेकधर्मेण चैकधर्मेण वा स्थेयमित्यर्थः ॥ १८ ॥

आह--केन बलेनास्य कार्यनिष्पत्तिः ? । तदुच्यते--

अद्भिरेव शुचिर्भवेत् ॥ १९ ॥

अत्र अद्भिः आङ् इव अद्भिरेव । आपो जलमित्यादिप्रसिद्धाः पूर्वोक्ताः । अद्भिरिति तृतीया । आङ् इति पूर्वप्रसिद्धमात्रादिमर्यादामधिकुरुते । गोमृगवद् द्वन्द्वसहिष्णुत्वमर्यादायां च । इव इति उपमायाम् । यथा अद्भिश्च मृद्भिश्च प्रक्षालितानि वस्त्रादीनि शुद्धानि भवन्ति, तद्वत् ॥ १९ ॥

गोमृगधर्मित्वेन बलेन शुचिर्भवतीति ? उच्यते--न । यस्मादाह— गोमृगयोरकुशलधर्मप्रतिषेधं कुशलधर्मे च नियोगं, सिद्धशक्तिप्रशंसया असिद्धशक्तिप्रतिषेधं च वक्ष्यामः । तदाह--

सिद्धयोगी न लिप्यते कर्मणा पातकेन वा ॥ २० ॥

असिद्धस्तु सर्वथापि वर्तमानो लिप्यत इत्यर्थः । अतो योगी सिद्ध इत्येवं प्राप्ते सुखमुखोच्चारणार्थमुक्तं सिद्धयोगी इति । अत्र योगो नामात्मेश्वरयोर्योगः । तेनायं योगी । सिद्धो नाम दर्शनाद्यैश्वर्यं प्राप्तः । स खलु वशीकरणावेशनपालनादिप्रवीणः । न लिप्यते न संयुज्यत इत्यर्थः । आह--

केन न लिप्यते ? तदुच्यते--कर्मणा । अत्र कर्मणेत्युच्यते । कस्मात् ? कृतकत्वात् । कर्मणेति तृतीया । इष्टस्थानशरीरेन्द्रियविषयसम्बन्धकृतेन कर्मणा न लिप्यते न संयुज्यत इत्यर्थः आह—अनिन्दितेन शुभेन कर्मणा न संयुज्यत इत्युच्यते, आहो अथ किमशुभेन कर्मणा लिप्यते नेति ? तदुच्यते--न । यस्मादाह--पातकेन । अत्र पापाख्येन पातकेन वानिष्टस्थानशरीरेन्द्रियविषयगतोऽशुभं भुङ्क्ते, तेनाप्यशुभेन कर्मणा न लिप्यते न युज्यत इत्यर्थः । वा विकल्पे । पातकेन वा अपातकेन वा समस्ताभ्यां वा वशीकरणावेशनपालनादिषु प्रवर्तमानो न लिप्यते न संयुज्यत इत्यर्थः । कस्मात् ? सिद्धसामर्थ्यात् । असिद्धश्चायं योगी ब्राह्मणो गोमृगधर्मावस्थो यदि सर्वथापि गोमृगवत् प्रवर्तते, ततो लिप्यते । तस्माद् गोमृगयोरकुशलधर्मो न ग्राह्यः । कुशलधर्मश्च स्वाध्यात्मिकादिद्वन्द्वसहिष्णुत्वं परिगृह्यते । तेनायं शुचिर्भवति आह—किमस्याशौचम् ? तदुच्यते--द्वन्द्वैर्योगव्यासङ्गकरैः कामक्रोधशिरोरोगादिनिमित्तैः शीतादिभिरन्यैर्वा । न लिप्यते न संयुज्यत इत्यर्थः कस्मात् ? प्राप्तबलत्वादित्यर्थः । अत्र श्लोको निर्वचनः ॥ २० ॥

आह--शून्यागारगुहावस्थस्येन्द्रियजये वर्ततः काः क्रियाः कर्तव्याः ? किं स्नानहसिताद्याः ?, क्राथनस्पन्दनमण्टनाद्या वा ? तदुच्यते–न । यस्मादाह--

ऋचमिष्टामधीयीत गायत्रीमात्मयन्त्रितः ॥ २१ ॥

अत्र ऋचम् ऋचामित्यप्यदुष्टः पाठः । अत्र ऋचा नामाघोरा । कथं गम्यते ? ऋङ्मध्यात् । सद्योजाततत्पुरुषेशानवर्चिवर्चगीः (?) । इष्टा चेयं, तत्र तत्र जप्तव्यत्वेन गुणीकृतत्वात् । पूर्वोत्तरसूत्रेषु जप्तव्यत्वेन गायत्र्या सहाध्यानादाशुभावसमाध्यासादनाच्च इष्टा । अध्ययनम् इति जप्यपर्यायः । ईत इत्याज्ञायां नियोगे च । मानसमेवाऽधीयीतेत्यर्थः । आह--किं ऋचैवैकाध्येतव्या ? उच्यते—न । यस्मादाह—गायत्रीम् इति । गायत्री नाम तत्पुरुषा । निरुक्तमस्याः पूर्वोक्तम् । मानसमेवाधीयीतेत्यर्थः । आह--कीदृशोऽधीयीतेति ? तदुच्यते--आत्मयन्त्रितः । आत्मत्वमस्य चैतन्यम् ।

आप्तव्यं कार्यं करणं विषयाश्च। आत्मयन्यणमित्यत्र सति त्रिके युच्यते। यन्त्रणं नाम--यथायमात्मभावो ब्रह्मण्यक्षरपदपङ्क्त्यां युक्तो वर्तते, तदात्मा यन्त्रितो भवति। कथम्? नृत्यप्रसक्तचित्तदृष्टान्तात्। कस्मात्? आत्मात्मभावयोरव्युच्छेदात्। गुणगुणिनोरपि तथा युगपद्भावः। कथम्? यष्टुं प्रवृत्तो यन्त्रयितुं च प्रवृत्त एव भवति। भिक्षुवत्। तस्माद् यन्त्रणमेवैष प्रत्याहार इति॥ २१॥

आह--अत्र गायत्रीबहुत्वात् सन्देहः। कथमवगम्यते ऋचा अघोरेण वा तत्पुरुषेणेति? उच्यते--गम्यते। यस्मादाह--

रौद्रीं वा बहुरूपीं वा ॥ २२॥

अत्र रौद्री नाम तत्पुरुषा। निरुक्तमस्याः पूर्वोक्तम्। वाशब्दो रौद्रीबहुरूप्योः प्रतिविभागे द्रष्टव्यः। बहुरूपी नामाघोरा। वा विकल्पे। तुल्यफलत्वात्। वेत्यत एका चैका वा। आत्मयन्त्रितोऽधीयीत इत्यर्थः॥ २२॥

आह--आत्मयन्त्रितस्याधीयतः का कार्यनिष्पत्तिः? तदुच्यते--

अतो योग प्रवर्वते ॥ २३॥

अत्र अत इति कारणापदेशे। आत्मयन्त्रितोऽधीयीतेत्यर्थः। तस्मादनेन कारणेन हेतुना निमित्तेनेत्यर्थः। योग इति आत्मेश्वरसंयोगो योग इति मन्तव्यः। प्र इत्यादिकर्माणि। प्रवर्तते इत्यस्य पूर्वोक्तोऽर्थः। अत्र श्लोको निर्वचनः॥ २३॥

आह--ऋचमधीयता ब्रह्मण्यक्षरपदपङ्क्त्यां किं युक्तेनैव स्थेयम्? आहोस्विद् दृष्टा अस्यान्या सूक्ष्मतरा उपासना क्रियाध्याननमःस्तव्यम्? उच्यते--दृष्टा। यस्मादाह--

ओङ्कारमभिध्यायीत ॥ २४॥

अत्र ओम् इत्येष जप्यपर्यायो वामदेवादिवत्। कारशब्दोऽवधारणे द्रष्टव्यः। किं कारणम्? उक्तं हि--

"प्रणवे नित्ययुक्तस्य व्याहृतीषु च सप्तसु ।
त्रिपदायां च गायत्र्यां न मृत्युर्विन्दते परम् ॥"

इत्यत ओङ्कार एवावधार्यते ध्येयत्वेन न तु गायत्र्यादयः अभिरध्यासे । ओङ्कारसन्निकृष्टचित्तेन भवितव्यम् । ध्यै चिन्तायाम् । ध्यानं चिन्तनमित्यर्थः । उक्तं हि—

"ध्यै चिन्तालक्षणं ध्यानं ब्रह्मा चोङ्कारलक्षणम् ।
धीयते लीयते वापि तस्माद् ध्यानमिति स्मृतम् ॥"

मुहूर्तार्धं मुहूर्धं प्राणायामान्तरेऽपि वा ।
ध्येयं चिन्तयमानस्तु पापं क्षपयते नरः ॥"

ईत इत्याज्ञायां नियोगे च । ओङ्कार एव ध्येयो नान्य इत्यर्थः ॥ २४ ॥

आह – ओङ्कारो ध्येयः । को वा ध्यानदेशः ? कस्मिन् वा देशे धारणा कर्तव्या ? ध्यायमानेन वा किं कर्तव्यम् ? तदुच्यते—

हृदि कुर्वीत धारणाम् ॥ २५ ॥

अत्र हृदि इत्यात्मपर्यायः । कस्मात् ? पूर्वोत्तरसामर्थ्यात् । योऽर्थो यत्र मिलति स तत्र स्थापयितव्यः, स एवार्थो धारयितव्यः । किञ्च वेद प्रामाण्यादुक्तम्—

"अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥"

अन्यत्रापि—

"आत्मा विजायते पुत्र आत्मा वै आत्मनः पिता ।
आत्मप्रजो भविष्यामि परमं हृदयं हि सः ॥"

अतो हृदयमात्मेत्युक्तम् ।

" ÷ ÷ प्रकुरुते भावं बुद्धिरध्यवसायिताम् ।
हृदय प्रियाप्रिये वेत्ति त्रिविधा करणस्थितिः ॥"

तथा लोकेऽपि सन्ति वक्तारो – हृदयं ते ज्ञास्यति । किमुक्तं भवति । आत्मा ते ज्ञास्यतीति । अतोऽवगम्यते हृदीत्यात्मपर्यायः । हृदीति औपश्लेषिकं सन्निधानम् । अत्र तु ओङ्कारो धार्यो नात्मा, किन्तु य एवात्मन्यात्मभावः । तस्योङ्कारात् प्रच्युतस्य विषयेभ्यो वृत्तिविकारमात्रेण गतस्य प्रत्यानयनं प्रत्याहारः । प्रत्याहृत्य हृदि धारणा कर्तव्या । धार्यं चोङ्कारानुचिन्तनम् । तत्रैव सुदीर्घकालमवस्थानमध्ययनम् । तद्धारणाहितं परं ध्यानम् । निष्ठा-योगस्तु स्थापयित्वेति, (अ० ५, सू० ३८) वक्ष्यामः । कुर्वीत इति । डुकृञ् करणे । तस्य सप्तम्यन्ते कुर्वीतेति भवति । हृदि धारणा कर्तव्या । ईत इत्याज्ञायां नियोगे च । पादजानुकटिनासिकादिस्थानेषु धारणाकर्तव्यता-प्रतिषेधार्थो नियोगः । हृदि धार्या, नान्यत्रेत्यर्थः ॥ २५ ॥

आह – ओङ्कारः किं परप (?) विष्णुरुमा कुमारश्च, चतस्रोऽर्ध-मात्रा वा ? उत समानपुरुष इति ? उच्यते—न । यस्मादाह—

ऋषिविप्रो महानेषः ॥ २६ ॥

अत्र ऋषिः इत्येतत् भगवतो नामधेयम् । ऋषिः कस्मात् ? ऋषिः क्रियायाम् । ऋषित्वं नाम क्रियाशंसनादृषिः । तथा कृत्स्नं कार्यं विद्याद्य-मीशत इत्यतः ऋषिः । तथा विप्रः कस्मात् ? विद ज्ञाने । विप्रत्वं नाम ज्ञानशक्तिः । व्याप्तमनेन भगवता ज्ञानशक्त्या कृत्स्नं ज्ञेयमित्यतो विप्र इति । तथा महान् इत्यभ्यधिकत्वे । यदेतद् दृक्क्रियालक्षणमस्ति अना-गन्तुकमकृतकमैश्वर्यं तद्गुणसद्भावः, सतत्त्वं तत्त्वधर्मः, तदकृतकं पुरुष-चैतन्यवत्, तन्नान्यस्येत्यतोऽभ्यधिकः उत्कृष्टोऽतिरिक्तश्चेति महान् । एष इति प्रत्यक्षे । एष यो मया पूर्वमोमिति श्रोत्रप्रत्यक्षीकृतोऽर्थः, असौ विष्णूमा-कुमारादीनामन्यतमो न भवति । कस्मात् ऋषित्वाद् विप्रत्वाद् महत्त्वा-च्चेत्यर्थः ॥ २६ ॥

आह—ऋषित्वं विप्रत्वं च कीदृशे महेश्वरे चिन्तनीयम् ? कीदृशो वा ओङ्कारो ध्येयः ? तदुच्यते—

वाग्विशुद्धः ॥ २७ ॥

अत्रापि वाग्विशुद्ध इत्यपि भगवतो नामधेयम् । न अमी इत्यन्यो भगवान् । स यथा ह्यथो हित्वा वाणीं मनसा सह रूपरसगन्धविद्यापुरुषादिपरो निष्कलो ध्येयः । यस्मादुक्तम्—

"आकृतिमपि परिहृत्य ध्यानं नित्यं परे रुद्रे ।
येन प्राप्तं योगे मुहूर्तमपि तत् परो योगः ॥"

परमयोग इत्यर्थः ॥ २७ ॥

आह—अथ यथायं बालवन्निष्कलस्तथा किं समानपुरुषः ? तदुच्यते-न । यस्मादाह--तदाप्ययम् ।

महेश्वरः ॥ २८ ॥

अत्रानाद्यज्ञानाद्यतिना (?) ऋषित्वविप्रत्वसंज्ञकेन महता ऐश्वर्येण महेश्वर इति सिद्धम् । इह तु यदायं वाग्विशुद्धो निष्कलस्तदा किं समानपुरुषवदनीश्वर इत्यस्य संशयस्य संव्युदासार्थमुच्यते महेश्वर इति । यस्मादस्यैश्वर्यं निष्कलस्यापि स्वगुणसद्भावः सतत्त्वं तत्त्वधर्मः । तदकृतकत्वं पुरुषचैतन्यवत् । अतस्तदाप्ययं महानेवेश्वरो महेश्वरः । तस्मादकृतक एव महच्छब्द इत्यतो महेश्वर इति ।

एवमोङ्कारमिति ध्येयमुक्तम् । ध्येयगुणीकरणमुक्तम् ऋषिर्विप्रो महानेष इति । ध्येयावधारणमुक्तं वाग्विशुद्धो निष्कल इति । ध्येयशक्तिप्रशंसा चोक्ता महेश्वर इति । एवं यस्मादिन्द्रियजये वर्तते, अतो वसत्यर्थवृत्तिबलक्रियालाभादयश्च व्याख्याता इति ॥ २८ ॥

अत्रोऽत्र युक्तं वक्तुं--शून्यागारगुहाप्रकरणं परिसमाप्तिमिति ॥

आह – शून्यागारगुहायां यदा ।जतानीन्द्रियाणि देवनित्यता च प्राप्ता भवति, तदा किं तदेव भैक्ष्यं वृत्तिमास्थाय तत्रैवानेन दुःखान्तप्राप्तेः स्थेयम् ? आहोस्विद् दृष्टोऽस्यापि वसत्यर्थो वृत्तिर्बलक्रियालाभाश्चेति ? उच्यते – दृष्टः । यस्मादाह –

श्मशानवासी ॥ ३० ॥

आह—शून्यागारगुहामुत्सृज्य प्रयोजनाभावात् श्मशाने संक्रान्तिरयुक्तेति चेत् ? तदुच्यते – न। योगव्यासङ्गपरिहारार्थत्वात्। इहावस्थानादवस्थानं प्राप्य ब्राह्मणस्य सर्वत्र वसत्यर्थवृत्तिबलक्रियालाभादयाऽयुतसिद्धा वक्तव्याः। तत्रादिधर्मा अप्यस्य तावदायतने वसत्यर्थः वृत्तिर्भैक्ष्यं बलमष्टाङ्गं ब्रह्मचर्यं क्रियाः स्नानहसिताद्याः स्नानं कलुषापोहः शुद्धिः ज्ञानावाप्तिः अकलुषत्वं च लाभा इति। तथा असन्मार्ग (अ० ४, सू० ९) परिभवोपदेशाद् (अ० ३, सू० ५) आयतने वसत्यर्थः वृत्तरुत्सृष्टं बलमकलुषत्वम् इन्द्रियद्वारपिधानं च क्रिया इन्द्रियाणि पिधाय (अ० ४, सू० ४) उन्मत्तवदवस्थानं पापक्षयाच्छुद्धिः लाभस्तु कृत्स्नो धर्मस्तुल्येन्द्रियजये वर्तते। तथा वसत्यर्थः शून्यागारगुहा वृत्तिर्भैक्ष्यं बलं गोमृगयोः सहधर्मित्वं क्रिया अध्ययनध्यानाद्या अजितेन्द्रियवृत्तितापोहः शुद्धिः लाभस्तु देवनित्यता जितेन्द्रियत्वं चेति। तथेहापि श्मशाने वसत्यर्थः वसन् धर्मात्मा यथालब्धमिति वृत्तिः क्रिया स्मृतिः अस्मृत्यपोहः शुद्धिः लाभस्तु सायुज्यम्। तथोत्तरत्र ऋषिरिति वसत्यर्थः बलमप्रमादः प्रसाद उपायः दुःखापोहः शुद्धिः गुणावाप्तिश्च लाभ इति तथोक्तं च—

“पञ्च लाभान् मलान् पञ्च पञ्चोपायान् विशेषतः।
यस्तु बुध्यति पञ्चार्थे स विद्वान् नात्र संशयः॥

प्रथमो विद्यालाभस्तपसो लाभोऽथ देवनित्यत्वम्।
योगो गुणप्रवृत्तिर्लाभाः पञ्चेह विज्ञेयाः॥

अज्ञानधर्मश्च विषयाभ्यासः स्थितेरलाभश्च।
अनैश्वर्यं च मलाविज्ञेयाः पञ्च पञ्चार्थे॥

वासो ध्यानमखिलकरणनिरोधस्तथा स्मृतिश्चैव।
प्रसाद इति चोपाया विज्ञेयाः पञ्च पञ्चार्थे॥

वासार्थो लोकश्च शून्यागारं तथा श्मशानं च।
रुद्रश्च पञ्च देशा नियतं सिद्ध्यर्थमाख्याताः॥”

तस्माद्युक्तमुक्तम् । स एव प्रागुक्तः सम्बन्धः श्मशानवासी इति । अत्र श्मशानं नाम–यदेतल्लोकादिप्रसिद्धं लौकिकानां मृतानि शवानि परित्यजन्ति तत् । शवसम्बन्धात् श्मशानम् तस्मिन्नाकाशे वृक्षमूले यथानभिष्वङ्गमर्यादया जितद्वन्द्वेन स्मृतिक्रियानिविष्टेन वस्तव्यम् । वसतिसंयोगात् श्मशानवासी भवति, पुलिनवासिवदित्यर्थः ॥ ३० ॥

आह––किमस्य गोमृगयोः सहधर्मित्वमेव बलम् ? तदुच्यते––न । यस्मादाह––

धर्मात्मा ॥ ३१ ॥

अत्र धर्मो नाम––य एष यमनियमपूर्वकोऽभिव्यक्तो माहात्म्यादिधर्मः, स पूर्वोक्तः । सोऽस्यात्मनि प्रवितः । तेन धर्मेण धर्मात्मा भवतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

आह––किमस्य भैक्ष्यमेव वृत्तिः ? उच्यते—न । यस्मादाह—

यथालब्धोपजावकः ॥ ३२ ॥

अत्र यथा इति समानार्थे । अम्लादिषु, जितेन्द्रियत्वात् । लब्धम् आसादितमप्रार्थितमित्यर्थः । उप इति समीपधारणे । तद् यथालब्धमन्नपानं श्मशानादनिर्गच्छता । दिवसे दिवसे जीवनाय स्थित्यर्थं तदुपजीवन् यथालब्धोपजीवको भवतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

आह––किं जीवनमेव परो लाभ इति ? उच्यते––न । यस्मादाह––

लभते रुद्रसायुज्यम् ॥ ३३ ॥

अत्र लभते विदन्ते आसादयतीत्यर्थः । रुद्र इति कारणापदेशे । रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम् । साक्षाद् रुद्रेण सह संयोगः सायुज्यम् । भावग्रहणमात्नेश्वराभ्यामन्यत्र प्रतिषेधार्थम् । योगस्य सम्यक्त्वं सायुज्यमिति योगपर्यायोऽवगम्यते । धर्मात्म––(अ० ५, सू० ३१) वचनादतिगत्यानन्त्यवदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

आह—तत् केनोपायेन लभते ? किमध्ययनध्या (प?) नाभ्यामेव ? तदुच्यते––न । यस्मादाह––

सदा रुद्रमनुस्मरेत् ॥ ३४ ॥

अत्र सदा नित्यं सततमव्युच्छिन्नमिति। रुद्रमिति कारणापदेशे। रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। रुद्रमिति द्वितीया कर्मणि। अनु पृष्ठकर्मक्रियायाम्। पूर्वोक्तो ध्येयोऽर्थः सततमनुस्मर्तव्यः। स्मृतिः चिन्तायाम्। ऊष्मवदवस्थितस्य कर्मणश्च्युतिहेतोः क्षपणार्थं सततमनुस्मर्तव्यः। स्मृतिस्तु देवनित्यतेत्यर्थः। ततः क्षीणे कर्मणि तद्दोषहेतुजालमूलविशिष्टस्य प्रत्यासैक (?) निमित्ताभावात् सायुज्यप्राप्तौ न पुनः संसारः। अत्र श्लोको निर्वचनः ॥ ३४ ॥

आह—अज्ञानकलुषपापवासनादिप्रसङ्गप्रसरणसम्भवात् सन्देहः। (किं) सूक्ष्मवदवस्थिते कर्मणि क्षीणेऽत्यन्तविशुद्धः सायुज्यमासादयति आहोस्विदविशुद्ध इति ? उच्यते--विशुद्धः। यस्मादाह—

छित्त्वा दोषाणां हेतुजालस्य मूलम् ॥ ३५ ॥

अत्र व्युत्क्रमाभिधानाच्छेदः क्रमशो योजनीयः। यन्त्रणधारणात्मकश्छेदो द्रष्टव्यः। किमर्थम् ? सूक्ष्मवदवस्थितस्य कर्मणः क्षयार्थं वसस्यर्थादिनिर्देशार्थत्वात्। किञ्च अर्थानामनिर्वचनार्थत्वात् तत्र जप एव केवलोऽभिहितः। इह तु यत इन्द्रियाणि जेतव्यानि, यो जेता, यया जेतव्यानि, यथा जेतव्यानि, यत्प्रयोजनं जेतव्यानि यस्मिश्च जिते जितानि भवन्ति, तद् वक्ष्यामः। तथा यत आत्मा छेत्तव्यः छेत्तारं छेदकरणं छेदप्रयोजनं छेद्यं छित्तिं यस्मिन् छिन्ने छिन्नं भवति, तद् वक्ष्यामः। तदुच्यते—छित्त्वा। अत्र छेदो नाम आत्मभावविश्लेषणमात्रम्। विच्छेदवचनाद्। गम्यते। त्वा इति शून्यागारगुहावस्थितस्याध्ययनध्यानधारणयन्त्रणादिकं गम्यते। आह--किं तत् ? केभ्यो वा छेत्तव्यम् ? तदुच्यते—दोषाणां हेतुजालस्य मूलम् इति। अत्र दोषाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। कस्मात् ? कामार्जनादिमूलत्वात्। यस्मादुक्तं--

"कामः क्रोधस्तथा लोभो भयं स्वप्नश्च पञ्चमः।
रागो द्वेषश्च मोहश्च ॥"

तथा अर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादयो दोषाः। अर्जनं नाम प्रतिग्रहजयक्रयविक्रयनिर्वेश्यादिषु वर्णिनां विषयार्जनोपायाः एतेषु च विषयाणामर्जने वर्ततात्मपीडा परपीडा वा अवर्जनीये भवतः। तत्र यद्यात्मानं पीडयति, तेन इहैव लोके दुःखी भवति। स्यात् परं पीडयति, तत्राप्यस्याधर्मो दुःखादिफलः संचीयते। तच्च दुःखं नान्योऽनुभवति, कर्तैवानुभवति। अपिच किम्पाकफलोपमा विषयाः। तद्यथा श्रूयते—"लवणसागरसन्निकर्षे कालयवनद्वीपे किम्पाका नाम विषयवृक्षाः। तत्फलान्यास्वादेनामृतोपमानि च केचिदज्ञानाद् गुडवद् भक्षयन्ति। भक्षितानि च तानि मूर्छां छर्दि च जनयन्ति। तत्तीव्रदुःखाभिभूताः पञ्चत्वमापुः।"

"श्रुत्वा तु सुहृदां वाक्यं यो नरो ह्यवमन्यते।
स दह्यते विपाकान्ते किम्पाकैरिध भक्षितैः॥"

एवं किम्पाकफलोपमा विषयाः सेव्यमानाः सुखं जनयन्ति। परिणामे संसारे जन्मनिमित्तत्वाद् दुःखानि प्रतिपद्यन्ते। इत्येवं विषयाणामर्जने दोषं ज्ञात्वा विरज्यते शतानां सहस्त्राणां वा यदि कश्चित्। तथाऽन्यः कथम्? अस्त्वेष विषयाणामर्जने दोषः। स भवतु तेषाम्। न वयं तत् प्रतिषेधयामः। अयं त्वन्यः कष्टो विषयदोषः। कश्चासाविति? उच्यते—रक्षणदोषः। अर्जितानामप्येषामवश्यमेवोद्यतायुधेन रक्षा विधातव्या। कस्मात्? नृपदहनतस्करदायादसाधारणफलत्वात्। तत्रात्मपीडा। परपीडायां च यथोक्तः। उक्तं हि—

"स्वद्रव्यं पुरुषं चोराः स्वमांसं पिशिताशिनः।
क्लेषयन्ति यथा घोरास्तथाहि विषया नरम्॥
क्लेशं समनुभुङ्क्ते च विषयाणां परिग्रहाम्।
तेषामेव परित्यागात् सर्वक्लेशक्षयो भवेत्॥
आत्मदुःखोपघातार्थं त्यागधर्मं समाचरेत्।
नापरित्यज्य विषयान् विषयी सुखमेधते॥"

विषयाणामर्जनादौ दोषं ज्ञात्वा विरज्यते शतानां सहस्त्राणां वा यदि कश्चित्। तथा अन्यः कथम्? अस्त्वेष विषयाणामर्जनरक्षणादौ दोषो

भवतस्तेषाम् । न वयं तौ प्रतिषेधयामः । अयं त्वन्यः कष्टतरो (दो?) विषयणां दोषः कश्चासाविति ? उच्यत--क्षयो दोषः । अर्जितानां सुरक्षितानाप्येषामवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यः (क्षयः) । विषयक्षये च पुनर्विषयिणां तीव्रदुःखमभिव्यज्यते । मत्स्यादिवद् यथोदकक्षये नदीनां, तद्वत् । तस्मादशोभनम् । उक्तं हि—

"त्रय एव ह्रदा दुर्गाः सर्वभूतापहारिणः ।
स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यं तेषु जाग्रथ ब्राह्मणाः ! ॥
नास्ति ज्ञानसमं चक्षुर्नास्ति क्रोधसमो रिपुः ।
नास्ति लोभसमं दुःखं नास्ति त्यागात् परं सुखम् ॥"

इति । एवं विषयाणां क्षयदोषं ज्ञात्वा विरज्यते शतानां सहस्त्राणां वा यदि कश्चित् । तथान्यः कथम् ? इति । सन्त्येते विषयदोषाः । अयमन्यतरः कष्टतरो दोषः । कश्चासाविति ? उच्यते—सङ्गदोषः । यदि तावदर्जनं क्रियते रक्षणं च क्षये च पुनः पुनरर्जनं क्रियते रक्षणं च । यदि सङ्गदोषो न स्यात् कथम् ? यावदयमिन्द्रिययुक्तो विषयानभिलषति, तावदस्य तृप्तिरुपशान्तिरौत्सुक्यविनिवृत्तिश्च न भवति । भूय एव विषयानन्वेष्टुमारभते । ततः पुनरतृप्त्यादयो भवन्ति तद्वद् । तस्मादशोभनम् । उक्तं हि—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयः एवाभिवर्धते ॥
तत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् तृप्त्यै तस्माद् विद्वान् शमं व्रजेत् ॥"

इति एवं विषयाणां सङ्गदोषं ज्ञात्वा विरज्यते शतानां सहस्त्राणां वा यदि कश्चित् । तथान्यः कथम् ? इति । सन्त्येते विषयाणामर्जनादयो दाषाः । ते भवन्तु तेषाम् । न वयं तान् प्रतिषेधयामः । अयं त्वन्य. कष्टतमा विषयाणां दोषः कश्चासाविति ? उच्यते--हिंसादोषः । शक्यमेतेषां विषयाणामर्जनादि कर्तुम्, इन्द्रियलौल्यदोषोऽपि भवतु । यदि हिंतादोषो न स्यात् । कथम् ? एतेषामेव विषयाणामुपभोगे वर्तता अवश्मेव हिंसादिदोषाः कर्तव्याः ।

कस्मात् ? नानुपहत्य भूतानि विषयोपभोगः शक्यते कर्तुम् । तत्र शब्दनिमित्तं तावदयं क्रियते । तद्यथा--वीणानिमित्तं खदिरादीन् छिद्यमानान् दृष्ट्वा तन्त्रीनिमित्तं वा कांश्चिद्धिंस्यमानान् दृष्ट्वा यदि कश्चिद् ब्रूयाद् अशोभनोऽयं भूतवध- क्रियते, कदनं कर्म क्रियते [स वक्तव्योऽत्र ते न शोभनोऽयम् यदा भिक्षाप्रदगृहेषु रम्यान् शब्दान् श्रोष्यसि, तत्र परः परितोषो भविष्यति तथा] सूत्रादिनिमित्तं तावद् भुतवधः क्रियते । तद्यथा--कोशकारादीन् वध्यमानान् दृष्ट्वा यदि कश्चिद् ब्रूयाद् अशोभनोऽयं भूतवधः कदनं कर्म क्रियते । स वक्तव्योऽत्र ते न शोभनोऽयम् । यदा भिक्षदगृहेषु मृदुतरस्पर्शानि वासांसि प्राप्स्यसि, तत्र ते परः परितोषो भविष्यति । तथा रूपनिमित्तं तावद् भूतवधः क्रियते । तद्यथा--अशोकादीन् वृक्षान् छिद्यमानान् दृष्ट्वा हस्तिनश्च दन्तनिमित्तं वध्यमानान् दृष्ट्वा यदि कश्चिद् ब्रूयाद् अशोभनोऽयं भूतवधः कदनं कर्म क्रियते । स वक्तव्योऽत्र ते न शोभनोऽयम् । यदा भिक्षदगृहमलङ्कृतकवाटगोपुरं द्रक्ष्यसि, तत्र ते परः परितोषो भविष्यति । तथा रसनिमित्तं तावद् भूतवधः क्रियते । तद्यथा—तित्तिरिमयूरवराहादीन् वध्यमानन् दृष्ट्वा यदि कश्चिद् ब्रूयाद् अशोभनोऽयं ,भूतवधः क्रियते । स वक्तव्योऽत्र ते न शोभनोऽयम् । यदा भिक्षदगृहेषु षड्रसमांसप्रकारैर्भोक्ष्यसे, तत्र ते परः परितोषो भविष्यति । तथा गन्धनिमित्तं तावद् भूतवधः कियते तद्यथा—(पञ्च)नखादीन् वध्यमानान् दृष्ट्वा यदि कश्चिद् ब्रूयाद् अशोभनोऽयं भूतवधः कदनं कर्म कियते स वक्तव्योऽत्र ते न शोभनोऽयम् । यदा भिक्षदगृहेषु सुगन्धान् गन्धान् प्राप्स्यसि, तत्र ते परितोषो भविष्यति । एवं—

"कामः क्रोधश्च लोभश्च भयं स्वप्नश्च पञ्चमः ।
रागो द्वेषश्च मोहश्च ॥"

इति । अर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादिमूलत्वादतोऽत्र शब्दादयो विषयाः दोषाः । दोषाश्च कथम् ? (दुष) चित्तवैचित्ये । दूषयन्तीति दोषाः । दूषयन्ति यस्मादध्ययनध्यानादिनिष्ठं साधकं विचित्तं कुर्वन्तीति दोषाः । दोषाणाम् इति षष्ठीबहुवचनम् । आह—किं दोषाणामेव दोषेभ्य एव वा छेत्तव्यम्-

क्तम् ? न। यस्मादाह—हेतुः। अत्र हेतुधर्मः। कस्मात् ? चित्तच्युतिहेतुत्वात्। यस्मात् तेनाविष्टः साधकोऽध्ययनस्मरणादिभ्यश्च्यवतीत्यतोऽत्राधर्मो हेतुः। धर्मस्तु स्थित्यादिहेतुः। आह – कस्यायं हेतु ? उच्यते – जालस्य। अत्र यदा अधर्मः कूटस्थोऽनारब्धकार्यस्तदा हेतुरित्युच्यते। यदा त्वज्ञानवासनावशाद्वृत्या स्थित्यादिभावमापन्नस्तदा जालाख्यां लभते। कस्मात् ? जालादिवत् समूहस्येत्यर्थः (?) अन्यस्य तन्मयकारणस्याभावात्। जालस्येति षष्ठी खेदनशेषत्वे वर्तते। अतश्छिन्नमेव भवति। कस्मात् दोषचित्तसन्निपातप्रभवत्वाद्धेतुजालयोः। आह – किं प्रतिसम्बन्धि दोषहेतुजालसंश्लष्टं भवति ? तदा कथमभिलप्यते ? तदुच्यते—मूलम्। अत्र मूलमित्युक्ते कस्येति भवति। दोषचित्तसन्निपातप्रभवत्वाद्धेतुजालयोः प्रवृत्तेरित्यतोऽवगम्यते संयोगमूलमेवात्र मूलमिति ॥ ३५ ॥

आह – केनायं छेत्ता मूलच्छेदं करोति ? तदुच्यते—

बुद्धया ॥ ३६ ॥

अन्तःकरणाख्या बुद्धिरित्युक्ता। तया धर्मस्मृतिचोदनादिसहितया विद्यागृहीतया बुद्धया छेद्यं स्थाप्यं चेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

आह— किं दोषादिसहगतबधादिविश्लिष्टमपि तत् परतन्त्रमुच्यते ? न। यस्मादाह—मूलाख्यायां निवृत्तायां,

संचित्तम् ॥ ३७ ॥

अत्र सम् इति दोषादिविश्लिष्टं स्वयमेव स्वगुणत्वेन परिगृह्यते, अग्न्युष्णत्ववन्नित्यानुबन्धित्वाच्चेत्यर्थः। आह—किं तद् इति ? उच्यते—चित्तम्। अत्र चिती संज्ञाने, चेतयति चिनोति वा अनेनेति चित्तम्। चेतयति सुखम्-दुःखम् पदार्थान्, चिनोति धर्माधर्मौ अर्जयतीत्यतः चेतयति चिनोति वा अनेनेति चित्तम्। चित्तम् मनोऽन्तःकरणमित्यर्थः। अत्र त्वेतेभ्यो दोषहेतुत्वादिभ्यो युगपच्छेत्तव्यं, विद्यमामेभ्यस्तु क्रमशः क्षपणमिति ॥ ३७ ॥

आह—छित्त्वा तच्चित्तं किं कर्तव्यम्? उच्यते—रुद्रस्थम्। यस्मादाह—

स्थापयित्वा च रुद्रे ॥ ३८ ॥

अत्र ष्ठा गतिनिवृत्तौ। चित्तस्य रुद्रादव्यवधानं स्थितिरित्युच्यते। त्वा इति श्मशानाद्यवस्थस्य स्मृतिकर्मणो निष्ठा। चशब्दः समुच्चये। न केवलं छित्त्वा स्थेयं, किन्तु स्थापयितव्यं चेत्यर्थः। रुद्रे इति कारणापदेशे। रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। रुद्र इत्यौपश्लेशिकं सन्निधानम्। रुद्रे चित्तमुपश्लेषयितव्यं नान्यत्रेत्यर्थः। एवं विषयेभ्य इन्द्रियाणां जयः कर्तव्यः। अत्र यो जेता?, आत्मा। यया जेतव्यानि? बुद्धया। यथा जेतव्यानि?, क्रमश्च। यत्प्रयोजनं जेतव्यानि?; चित्तस्थित्यर्थम्। यस्मिंश्च जिते जितानि भवन्ति?, चित्तं (? त्ते) इत्येतदपि व्याख्यातम्। एवं जपयन्त्रणधारणात्मकच्छेदादिष्वपि योज्यम्। तथान्तःकरणवृत्तिमास्थाय कालविशेषनिमित्तरश्मिमणिदीपवत्, तथात्मवृत्तिरध्ययनध्यानस्मरणादीनि चित्तस्थितिश्च व्याख्याता (?) श्लोको निर्वचनः ॥ ३८ ॥

आह—कार्यकरणं च तच्चित्तस्थितिसमकालमेव रुद्रे स्थितानि तानि युक्तानि (?) अथ किं तान्येव युक्तस्य लक्षणानि इति? उच्यते—न। यस्मादाह—

एकः क्षेमी सन् वीतशोकः ॥ ३९ ॥

अत्र धर्माधर्मयोर्वृत्त्योरुपरमे अवसितप्रयोजनत्वात् पक्वफलवत् सर्पकञ्चुकवद् गतप्रायेषु कार्यकरणेषु रुद्रे स्थितचित्तो निष्कल एक इत्यभिधीयते। तथा योगव्यासङ्गकरेऽधर्मे निवृत्ते दोषादिविश्लिष्टो निस्तीर्णकान्तारावदवस्थितो रुद्रे स्थितिचित्तः क्षेमी इत्यभिधीयते। तथा सूक्ष्मस्थूलसबाह्याभ्यन्तरसलक्षणविलक्षणासु क्रियासु विनिवृत्तासु रुद्रे स्थितचित्तो निष्क्रियः सन् इत्यभिधीयते। आह—अथ निष्क्रियोऽयमिति कथमवगम्यते? किं चात्र युक्तस्य लक्षणत्रयमेव? उच्यते—न। यस्मादाह—वीतशोकः।

अत्र शोकश्चिन्तेत्यनर्थान्तरम् । सा च चिन्ता द्विविधा भवति । कुशला चाकुशला च । तत्र कुशला नाम अध्ययनध्यानस्मरणाद्या । अकुशला नाम अनध्ययनाध्यानास्मरणाद्या । एवं जप यन्त्रणधारणादींश्च करिष्यामि न करिष्यामीत्येवमनेकविधायामपि चिन्तायां विनिवृत्तायां व्यपगतशोको वीतशोक इत्यभिधीयते ॥ ३९ ॥

एवमत्र योगपदार्थः समाप्तः । कस्मात् ? । अर्थानां निर्वचनत्वात् यस्मादस्याध्यायस्यादावुद्दिष्टा ये पदार्थास्ते दोषच्छेदासङ्गस्थित्यादिषु व्याख्याताः । एवमनेन युक्तेन ब्रह्मादयो देवा विशेषिता भवन्ति । तदसङ्गादिवचनात् ।

आह--अथ सांख्ययोगमुक्ताः किं न विशेषिता ? । उच्यते--विशेषिताः । कथम् ? । तद्ज्ञातातिशयाद् । कथम् ? । सांख्ययोगमुक्ताः कैवल्यगताः स्वात्मपरात्मज्ञानरहिताः संमूर्छितवत् स्थिताः । अस्य तु ज्ञानमस्ति । यस्मादाह--

अप्रमादी गच्छेद् दुःखानामन्तम् ईशप्रसादात् ४० ॥

इति । एवं कुर्वन् सर्वज्ञोऽस्यासंमोहं ज्ञापयति । उक्तं हि -

"कार्यकरणाञ्जनेभ्यो निरञ्जनेभ्यश्च सर्वपुरुषेभ्यः ।
अप्राप्तान्तं पुरुषं योऽभ्यधिकं वर्णयेत् स बुधः ॥"

आह—गतं यद् गन्तव्यम् । अथ किमयमुपचारः ? उच्यते - न । अपरिज्ञानान्नास्माकं योगनिष्ठं तन्त्रम् । अपि तु तत्कैवल्यव्यतिरिक्तोऽपि सर्वज्ञे नोच्यते (?) अप्रमादाद् गच्छेद् दुःखानामन्तमीशप्रसादात् । अत्र प्रमादशब्दोऽनागतानवधानगतत्वं पारतन्त्र्यं च ख्यापयतीत्यर्थः । तदङ्कुर-परिरक्षणवदनागतकालप्रतीकारकरणेन चैवायम् अप्रमादीशब्दो द्रष्टव्यः । तस्माद् युक्ते नैवाप्रमादिना स्थेयम् । तथा वर्तमाने माहेश्वरमैश्वर्यं प्राप्तमेवे-त्युक्तम् । गच्छेद् इति । गतिः प्राप्तिर्भवति गम्लृ सृप्लृ गतौ । प्राप्नोतीत्या-त्मेति, पत्रपाण्डुताफलपाकवत् । कथम् ? तस्मिन्नेव प्रवर्तते योऽयं दुःखा-नाम् इत्यत्र प्रसिद्धानि दुःखान्याध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानि । तत्रा-

ध्यात्मिकं द्विविधं दुःखं शारीरं मानसं च। तत्र मनसि भवं मानसं क्रोधलोभमोहभयविषादेर्ष्यासूयाद्वेषमदमानमात्सर्यारत्याद्यविशेषदर्शनादिनिमित्तं तद् दुःखम्। तथा शरीरमपि शिरोरोगदन्तरोगाक्षिरोगज्वरप्रतिमत्स्यातिसारकासश्वासोदरामयादिनिमित्तोत्पन्नं दुःखम्।

तथान्यदपि पञ्चविधं दुःखं भवति। तद्यथा—गर्भजन्माज्ञानजरामरणमिति। तत्र गर्भे तावद्—यदायं पुरुषो मातुरुदरे न्यस्तगात्रः खण्ड शकटस्थ इव पुमान् नियमश्रममनुभवमानोऽवकाशरहितः आकुञ्चनप्रसारणादिष्वपर्याप्तावकाशः सर्वक्रियासु निरुद्ध इत्येवमद्वारके अन्धतमसि मूढो बन्धनस्थ इव पुमान् अवश्यं समनुभवति। कस्मात्? चेतनत्वाद् भोक्तृत्वात् तन्मयत्वाच्च। न तु कार्यकरणानि। कस्मात्?। अचेतनत्वाद्भोक्तृत्वादतन्मयत्वाच्च।

तथा जन्मदुःखमपि। यदायं पुरुषो जायमानः पुरीषपङ्कमग्नवदनो मूत्रधाराभिरभिषिच्यमानो देहे संवृतदारके योनिनिस्सरणसङ्कटेऽत्यर्थं, पीड्यमानोऽस्थिमर्मबन्धनैः प्रघृष्यमाणो विक्रोशन् निनदंश्च जायते। पश्चात् पुनस्तस्यानुचितेन बाह्येन वायुना जननावर्तेन स्पृष्टस्य तीव्रं दुःखमभिव्यज्यते। राजपुष्टकादिवत्। तेन चास्य जात्यन्तरादिस्मृतिहेतुसंस्कारलोपो भवति। एवं जन्मदुःखं पुरुष एवानुभवति। कस्मात्? चेतनत्वाद् भोक्तृत्वात् तन्मयत्वाच्च। न तु कार्यकरणानि। कस्मात्? अचेतनत्वादभोक्तृत्वादतन्मयत्वाच्च।

तथा अज्ञानदुःखमपि। अहङ्कारसात्कृतगात्रो न जानन् कोऽहं कुतोऽहं कस्याहं केन वा बन्धनेन बद्धोऽहमिति, किं कारणं किम् कारणं किं भक्ष्यं किमभक्ष्यं किं पेयं किमपेयं किं सत्यं किमसत्यं किं ज्ञानं किमज्ञानम् इत्यज्ञानदुःखं पुरुष एवानुभवति। कस्मात्? चेतनत्वाद् भोक्तृत्वात् तन्मयत्वाच्च। न तु कार्यकरणानि। कस्मात्?। अचेतनत्वादभोक्तृत्वादतन्मयत्वाच्च।

तथा जरादुःखमपि। यदायं पुरुषो जराजर्जरितः कृशशरीरः शिथिलीकृतनयनकपोलनासिकाभ्रूदशनावरणः कौञ्चजानुरिव निर्विण्णोऽक्षि-

दूषिकादिष्वपकर्षणादिष्वसमर्थो विहङ्ग इव लूनपक्षो लङ्घनप्लवनधावनादिष्वसमर्थः पूर्वातीतानि भोगव्यायामशिल्पकर्माण्यनुस्मरमाणः स्मृतिवैकल्यमापन्नोऽवश्यं क्लेशमनुभवति। कस्मात्? चेतनत्वाद् भोक्तृत्वात् तन्मयत्वाच्च? न तु कार्यकरणानि। कस्मात्? अचेतनत्वादभोक्तृत्वातहन्मयत्वाच्च।

तथा मृत्युदुःखमपि। यदायं पुरुषो मरणसमये श्लथकरणः शिरोधरमवलम्बमानः श्वासनोच्छ्वसनतत्परः खुरुखुरायमाणकण्ठः स्वोपार्जितमणकनकधनधान्यपत्नीपुत्रपशुसङ्घातः कस्य भविष्यतीत्यनुतप्यमानः विषयाननु द्रोदूयमानः सलिलादि याचमानो विरक्तवदनो मर्मभिश्छिद्यमानैरवश्यं क्लेशमनुभवति। कस्मात्? चेतनत्वाद् भोक्तृत्वात् तन्मयत्वाच्च। न तु कार्यकरणानि। कस्मात्?। अचेतनत्वादभोक्तृत्वादतन्मयत्वाच्च। उक्तं हि--

"गर्भे प्रविशन् दु,खं निवसन् दुःखं विनिष्क्रमन् दुःखम्।
जातश्च दुःखमृच्छति तस्माद्पुनर्भवः श्रेयान्॥"

इति। तथान्यदपि पञ्चविधं दुःखं भवति। तद्यथा--इहलोकभयं परलोकभयम् अहितसंप्रयोगः हितविप्रयोगः इच्छाव्याघातश्चेति। तथान्यदपि त्रिविधं दुःखं भवति। अध्यात्मिकमज्ञानं पुरुषे, आधिभौतिकं विषयित्वम्, आधिदैविकं च पशुत्वं त्रिविधम् अपरं प्राहुः। इत्येवमादीनि बाधनाया अप्रीतिफलाया जन्मनिमित्तत्वाद् दुःखानीत्युपचर्यन्ते। आह--चरणाधिकारेऽनतिप्रसादादशिवत्वसंज्ञके सर्वाण्यनतिप्रसादबीजत्वात् कुतो नात्यन्तनिवृत्तानि भवन्ति? कस्मात् (?)। संहारं प्राप्तस्य निगलमुक्ताधिकारवन्मुक्तावतिशयितगुणप्राप्त्यर्थम् उच्यते--गच्छेद् दुःखानाणन्तम्। दुःखानामत्यन्तं परमापोहो गुणावाप्तिश्च परं भवभीति। तदुभयमपि इत एव भवतीति। तदाह--ईशप्रसादात्। अत्रेश इत्येतद् भगवतो नामधेयम्। ईशः कस्मात्? विद्यादिकार्यस्येशनादीशः। प्रसादो नाम सम्प्रदानेच्छा। तस्मात् प्रसादात् सर्वदुःखापोहो गुणावाप्तिश्चदिमुपाध्यन्तरात् परपरिवादा-

दिवचनात् शुद्धिरिव युगपदित्यर्थः (?)। एवमयमथशब्दः, पशुपतेरित्युद्दिष्टयोर्दुःखान्तप्रसादयोर्गच्छेद् दुःखानामन्तमीशप्रसादादिति दुःखान्तं परिसमाप्तमिति ॥ ४० ॥

एवमध्यायपरिसमाप्ति कृत्वा युक्तं वक्तुम्--

अत्रेदं ब्रह्म जपेत् ॥ ४१ ॥

इति अस्य पूर्वोक्तोऽर्थः। विधिनैव पूर्वोक्तेन विधिना जप्तव्यम्। न तु दुःखान्तगतेन गणपतिवद्दि (अ० १, सू० ३८) त्यर्थः ॥ ४१ ॥

आह--कामित्वात् कृपया भगवता दुःखान्तो दत्तः स्वेच्छयैव, न पुनरदुःखान्तं करिष्यति। अथाशक्तस्तथाप्यस्य शक्तिव्याघातः पाचकवदकर्मापेक्षत्वं चोच्यते (?)। अत्र यथा नित्यो दुःखान्तस्तथा वक्ष्यामः। यथा च काङ्क्षतो लिप्सतश्च साधकाधिकारनिवृत्तिस्तथा वक्ष्यामः पदार्थनिगमनार्थे चोच्यते –

ईशानः सर्वविद्यानाम् ॥ ४२ ॥

अत्र ईशनाद् ईशानः। अत्रेशनादीशान इत्युक्तं कारणम्। ईशानः प्रभुः धातेत्यर्थः। आह—कस्यायमीशानः ? तदुच्यते—सर्वस्येशानः। सर्वशब्दो विद्या प्रकृतेर्निरवशेषवाची द्रष्टव्यः। विद्यानां धर्मार्थकामकैवल्यतत्साधनपराणाम् ईशानः विद्यानामिति षष्ठीबहुवचनम् ॥ ४२ ॥

आह--किं विद्यानामेवेशानः ?, न तु विद्याभिर्ये विदन्ति ?। उच्यते—

ईश्वरः सर्वभूतानाम् ॥ ४३ ॥

अत्र निरतिशय ऐश्वर्येण ईश्वरः। पुरुषः चैतन्यवदित्यर्थः (?)। आह--कस्यायमीश्वरः ?। तदुच्यते – सर्वभूतानाम्। अत्र चेतनाचेतनेषु सर्वशब्दः न केवलं पृथिव्यादिषु, किन्तु सिद्धेश्वरवर्जं चेतनेष्वेव सर्वभूतप्रकृतेर्निरवशेषवाची सर्वशब्दो द्रष्टव्यः। कस्माद् भूतानि ? भावनत्वाद् भूतानीत्युक्तम्। भूतानामिति षष्ठीबहुवचनम् ॥ ४३ ॥

आह—अत्र केचिद् विद्याभूतव्यतिरिक्तं ब्रह्माणमिच्छन्ति। तस्यायं किं प्रभुर्भवति नेति ? उच्यते— प्रभुः। यस्मादाह--

ब्रम्हणोऽधिपतिर्ब्रम्हा ॥ ४४ ॥

अत्र योऽयं विरिञ्चिः परमः पतिः सर्वचेतनव्यतिरिक्तः क्षेत्रज्ञः तस्मिन् ब्रह्मसंज्ञा। न तु प्रधानादिषु। कस्मात् ?। अधिपतिवचनविरोधात् ब्रह्म च कस्मात् ? बृंहणत्वाद् बृहत्त्वाद् ब्रह्मा। बृंहयते यस्माद् विद्याकला-भूतानि, बृहच्च तेभ्य इत्यतोऽधिपतिर्ब्रह्मा। ब्रह्मण इति षष्ठी। अधिरधि-ष्ठातृत्वे। तत्स्वाभाव्यात् संहृते चासंहृते च कार्य इत्यर्थः पत्युः पतिः। अधि-पतिः। राजराजवत्। पतिः पालने, पतिदर्शने भोगे च। पालयते यस्माद् ब्रह्मादीन् ईश्वरः। पाति ब्रह्मादिकार्यम् अधिपतिः ब्रह्मा। अधिपतिरीश्वरः एवं बृंहयते यस्मान् विद्यादिकार्यं, बृहच्च तेभ्य इत्यतोऽधिपतिर्ब्रह्मा भगवानिति ॥ ४४ ॥

आह—अत्र कार्यकरणमहाभाग्यमेवात्र ब्रह्मणि चिन्त्यते, न तु साधकस्य लिप्सा लाभो वेति ? उच्यते--न। यस्मादाह--

शिवो मे अस्तु ॥ ४५ ॥

अत्र येषां साधिकारत्वादनतिप्रसन्नस्तेषामशिवत्वं दृष्ट्वा दुःखान्तं गतेषु च शिवत्वं दृष्ट्वा आह-शिवो मे अस्तु इति। मे इत्या-त्मापदेशे। ममेत्यर्थः। अस्त्विति काङ्क्षायाम्। काङ्क्षति लिप्सति मृगयतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

आह--कियन्तं कालं भगवानस्य शिवो भवति ? तदुच्यते-नित्यम् यस्मादाह--

सदा ॥ ४६ ॥

अत्र सदा नित्यं सन्ततमव्युच्छिन्नमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

आह--कमेवमाह ? को वास्य शिवो भवतीति ? उच्यते--

शिवः ॥ ४७ ॥

अत्र शिव इत्येदपि भगवतो नाम। शिवः कस्मात्? परिपूर्णपरितृप्तत्वाच्छिवः। तस्मात् सदाशिवोपदेशान्नित्यो दुःखान्तः। कारणाधिकारनिवृत्तिः। तदर्थं नित्यो दुःखान्त इति सिद्धम् ॥ ४७ ॥

एवमेते पञ्च पदार्थाः कार्यकरणयोगविधिदुःखान्ताः समासविस्तरविभागविशेषोपसंहारनिगमनतश्च व्याख्याताः। उक्तं हि--

"आदौ यद् भवति समासोक्तं मध्ये तस्य विस्तरतश्च विभागतश्चोपनयनिगमनेन सतामप्येष निश्चयः"

इति। अत्र यावत् पतिरिति कारणपदार्थस्योपदेशः समासेन। विस्तरस्तु--वामो देवो ज्येष्ठो रुद्रः कामो शङ्करः कालः कलविकरणो बलविकरणोऽघोरो घोरतरः सर्वः शर्वः तत्पुरुषो महादेव ओङ्कार ऋषिर्विप्रो महानीश ईशान ईश्वरोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिव इत्येममाद्यो विस्तरः। विभागोऽपि--अन्यत् पतित्वम् अन्यदजातत्वम् अन्यद् भवोद्भवत्वमित्याद्यो विभागः विशेषः--अन्येषां प्रधानादीनि, अस्माकं तद्व्यतिरिक्तो भगवानीश्वरः। कारणाधिकारे यस्मादाह--ईश्वरः सर्वभूतानामिति। एष उपसंहारः--सार्वकामिक इत्याचक्षते। निगमनम्--ईश ईशान ईश्वरोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिव इति।

तथा पशुरिति कार्यपदार्थस्योद्देशः। तस्य विस्तरो--विद्या कला पशवः। उत्पाद्या अनुग्राह्यास्तिरोभाव्यकाल्यविकार्यमस्पदस्य बोध्यधिष्ठेयत्वे चेत्येवमाद्यः सूत्रविद्याधर्मार्थकामैर्भेदैर्दुःखान्तः विद्या (?)। कला द्विविधाः। कार्याख्याः करणाख्याश्च। तत्र कार्याख्याः पृथिव्याद्याः। करणाख्या बुद्ध्याः। पशवश्च त्रिविधाः। देवा मनुष्यास्तिर्यञ्चः। तत्र देवा अष्टविधा ब्रह्माद्याः। मानुष्यं चानेकविधं ब्राह्मणाद्यम्। तीर्यग्योनि च पञ्चविधं पशुमृगाद्यम्। पशवः साञ्जनाः निरञ्जनाश्च। एवमाद्यो विस्तरः। विभागोऽपि--अन्या विद्या अन्याः कलाः अन्ये च पशव इत्येवमाद्यो विभागः। विशेषः--अन्येषां प्रधानादीनि कारणानि, तानीह शास्त्रे कार्यत्वेन व्याख्यातानि। तत्र प्रधानं कारणमन्येषां, तदिह शास्त्रे पश्यनात् कार्यत्वेन

व्याख्यातम् । तथा पुरुषः कारणमन्यत्र, इह शास्त्रे पशुत्वात् कार्यत्वेन व्याख्यातः । तथा कर्ममध्यत्वात् कालः स्वभावः उपसंहारवत् (?) । भूतानि विकार्यत्वात् कार्यत्वेन व्याख्यातानि । इत्येष विशेषः । उपसंहारः—सार्वकामिक इत्यर्थः । निगमनं—विद्याकलाभूतानि ब्रह्मेति ।

तथा योगमिति योगपदार्थस्योद्देशः । तस्यैवं, चरतः, योगः प्रवर्तते (अ० १, सू० १९, २०) उभयथा यष्टव्यः (अ० २, सू० ९) अत्यागतिं गमयते (अ० २, सू० १७) नान्यभक्तिस्तु शङ्करे (अ०२, सू० २०) एवं, देवनित्यता नित्ययुक्तता अध्ययनं ध्यानं स्मरणं नित्यसायुज्यमिति विस्तरः । विभागः—क्रियालक्षणं क्रियोपरमलक्षणम् दूरदर्शनश्रवणमननविज्ञानानि (अ० १, सू० २१) गणपतिः (अ० १, सू०३८) भूयिष्ठं संप्रवर्तते (अ०५, सू० १३) सिद्धः, गच्छेद् दुःखानामन्तम् (अ० ५, सू० २०, ३९) इत्येवमाद्यो विभागः । ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्च । तत्र ज्ञानशक्तिः श्रवणाद्या । क्रियाशक्तिः मनोजवित्वाद्या । इत्येवमाद्यो विभागः विशेषः—अन्येषां कैवल्यम्, इह तु विशेषो विकरणमिति । प्रतिकरण इति कैवल्यधर्मातिशक्तिर्निष्कलमैश्वर्यमित्येष विशेषः । उपसंहारः—इत्येभिर्गुणैर्युक्त इति । अतो यावन्ति वाक्यविशेषाणि सन्निकृष्टानि निर्वचनानि तानि च विनिवर्चनानीति कृत्वा युक्तमुक्तम् ॥

एवमत्र श्रीभगवत्कौण्डिन्यविरचिते श्रीमद्योगपाशुपतशास्त्र-
सूत्रव्याख्याने पञ्चार्थभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः
सह ब्रह्मणा ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिसमाप्त इति ॥

॥ शिवम् ॥

अकारादिक्रमेण सूत्रसूची